मैं जिस समय यहां आया था, उस समय तत्कालीन नेताओं द्वारा यहांकी जनता स्वाधीनताके लिए अधिक इच्छुक देखी गयी। यहांकी जनता बड़ी ही हंसमुख और मिलनसार है। अधिकतर स्त्री-पुरुष रबरके बागानमें काम करते हैं। यहांसे रुई, रबर, गोंद, सोना आदि बाहरके देशोंमें भेजे जाते हैं। यहां शीशा, सोना, मैगनीज, टीन और कोयलेकी बड़ी-बड़ी खान हैं।

मकईके अतिरिक्त थोड़ी मात्रामें चावल भी पैदा होता है। इस देशमें नाइजर नदी बहती है जिसके माध्यमसे यहांका व्यापार होता है।

यहांके आदिवासी हब्शी लोगोंसे भी मेरी भेंट हुई थी। इनके हृदयमें भी भारतीयोंके प्रति अधिक स्नेह देखा।

अपनी स्वाधीनताके लिए नाइजीरियन जनता भारतीयोंके सहयोगकी कामना रखती है।

इस देशमें भारतीयोंकी संख्या लगभग ५०० है। यहां मैं केवल तीन दिन ठहरा था। इसी बीच यहांके कई गांवोंमें भी गया। यहांके जंगलोंमें खूंखार जानवरोंकी भी कमी नहीं।

तीन दिनके बाद लागोस बन्दरगाहसे एक छोटे जलयानपर अकराके लिए चल पड़ा। पांच दिनके पश्चात् समुद्री-यात्रा समाप्त कर घाना (गोल्ड कोस्ट)की राजधानी अकरा पहुंच गया।

उस समय सन्ध्याके पांच बज रहे थे।

...ामें

...वाल—

। यहां लोगोंने मुझे एक प्राइ... ...ल दिखलाया जिसमें भारतीय ... पढ़ते देखे गये। यहां बच्चोंको ... माध्यमसे शिक्षा ... गती थी। ... अनुशासित थे। पाठशालाके ... गन्दगीका कहीं लेश न था। ...बच्चोंके लिए एक गुजराती

... भी यहां रहनेवाले भारतीयोंकी ...लता है।

...े लोग अब पूर्णरूपेण ईसाई बन ... इसका कारण यह है कि ईसाई ...रक अपने आकर्षक हथकण्डोंको ...हांके लोगोंको ईसाई बनानेमें

...ा जगत

...: कारण

सीमित है।

शीतला फैलनेपर उसकी सूचना तुरन्त जिला स्वास्थ्य अधिकारी अथवा नगरमें नगर स्वास्थ्य अधिकारीको देनी चाहिये। इसकी रोकथामके लिए जिले शहरोंमें स्वास्थ्य अधिकारियोंसे सम्बद्ध सहायक सुपरिण्टेण्डेण्ट वैक्सीनेशन होते हैं जिनके नीचे वैक्सीनेटर अपने-अपने क्षेत्रोंमें कार्य करते हैं। अब ग्राम सेवक भी टीका लगानेका कार्य कर सकते हैं। यह विश्वास है कि सफल टीके लगनेपर शत-प्रतिशत

चित्र...

(पृष्ठ १३...

प्राणवान् था, वयवर्ग ११-१२ में भा... २०१० चित्र। यह एक कैच आउ... दुर्लभ दृश्य था। इसके सूक्ष्म अं... लक्षित पर्यवेक्षण, स्पष्टता, अभिव्यक्ति ... सप्राणता हृदयमें वैसे ही आह्लादकी ... उठाती थी जैसी कैच आउटपर दर्श... मनमें उठती है। वस्तुतः इस वर्गमें ... भारतका कृतित्व पूर्ववर्ती वर्गों जैसा ... श्रेष्ठ था। कलातत्वोंकी कसौटीपर ती... चित्र खरे उतरते ही थे; साथ ही ... विषय भी कम रोचक न थे। २०४... लैम्प पोस्टके लैम्पमें डण्डा मारता शरा... लड़का, २०५४ में मछली पकड़ने... विशाल दृश्य, १८७३ में तोतेसे बात क... बालिका अनायास ही प्रेक्षकोंको आकृष्ट... रसविभोर कर देती थी।

इस वर्गके चित्रोंकी ... अभिव्यंजनावादी थीं, अंगोंमें ... यथेष्ठ अनुपात तथा चित्र... विदग्धता थी। वैसे तो पर्यवेक्षण-प्र... कृतियोंकी प्रधानता थी, किन्तु कल्पना... विन्दु भी कहीं-कहीं छिटके लक्षित ... जाते थे। १९९७ (थाईलैंड) में भैंसे... उल्टा चढ़ा किशोर, १९२९ (हांगकां... का कल्पनालोकके प्राणी सा कु... युगास्लावियाके १९०१ के रक्त-वि... कपड़ेके टुकड़े, जिनसे एक मनो... हृदयको उभारा गया था, नन्हें मुन्नों... प्रतिभापर मुग्ध कर देते थे। चिली, सि... तथा पश्चिमी जर्मनीकी कतिपय कृतियां ... सराहनीय थीं।

बड़ोंकी अनुकृति : कल्पनाकी क...

वर्ग १०-११ तक ही प्रदर्शनी निश्... रूपसे बच्चोंकी प्रदर्शनी थी। ११-... वर्गको भी कतिपय अपवादोंको छोड़... बच्चोंका ही वर्ग कहा जा सकता है... इसके बादके वर्गोंकी चित्र-प्रदर्शनी ... प्रकारसे 'बड़ों'की चित्र-प्रदर्शनी थी... इसी कारण उसका स्तर गिर गया ... और इस अवनतिका सूत्रपात वर्ग ११-... से ही हो गया था। कल्पनाकी वह ... धारा, जो ५ वर्षसे नीचेसे लेकर ७ व... बच्चोंतकके चित्रोंमें प्रखर वेगसे प्रवहम... थी, उत्तरोत्तर क्षीण और मन्द होते-... इस वर्गमें आकर लुप्त प्राय हो गयी ... और आगेके वर्गोंमें तो उसका अस्ति... ही समाप्त हो गया था। यह स्वाभावि... था। कारण, कलाके क्षेत्रमें ११-१२ ...

खनीय संख्यामें विद्यमान थे। जापानकी वर्ग १२—१३—२०८३,२१०८,२११२, २२६०, लंकाकी २०८७, २२७८, २२८९, अमेरिका २११५, २१२४, आस्ट्रेलियाकी २२२४, वर्ग १३-१४ में ब्रिटेनकी २४०१, २४८५, लंकाकी२४५७, जापानकी २३०९, रूमानियाकी २३८३,२४१६, वर्ग १४-१५ में लंकाकी २६४४ तथा २७१८ तथा वर्ग १५-१६ में विभिन्न देशोंकी अनेक कृतियां उल्लिखित प्रवृत्तिका ज्वलन्त उदाहरण थीं। वर्ग ११-१२ में १९३०, १९३९, १९४२, १९६८रचनाएं इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। यूगोस्लावियाकी २२३८ में मौलिकताका वह सहज स्फुरण न था जो इस प्रदर्शनीका स्तर है।

उत्कृष्ट कृतियां भी थीं

इस विवेचनसे पाठक यह निष्कर्ष न निकालें कि उपर्युक्त वर्गोंमें उल्लेखयोग्य मौलिक कृतियोंका अभाव था। प्रत्येक वर्ग में, जिसकी अपनी-अपनी विशेषताएं थीं, उच्चस्तरीय कृतियां विद्यमान थीं।

वर्ग १२-१३ में सचेष्ट चित्रणकी प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती थी। रंगों और रेखाओं तथा कला-तत्वोंके ज्ञान और उसके कुशलतापूर्ण प्रयोगमें अभिवृद्धि हो गयी थी। जीवनके विविध रूपोंका उद्‌घाटन था। रूसी निसर्ग-चित्र अत्यन्त सजीव थे। पोलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, जापान आस्ट्रेलिया, रूमानिया तथा हंगरीके व्यक्ति-चित्रों तथा निसर्ग-चित्रोंकी सजीवता भी मनको मुग्ध कर देती थी। अर्जेण्टाइनाके चित्रोंमें प्रस्फुटित कल्पनाका सहजोद्रेक-जो १५-१६ वर्ष तकके सभी वर्गोंकी अर्जेण्टाइनाकी कृतियोंमें लक्षित होता था, - इस देशके विकसित-बाल मानसका परिचायक था। भारतके चित्र

SC
6/4/91



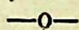
THE

PRINCESS OF WALES

SARASWATĪ BHAVANA TEXTS

No. 34.

(PART I)



EDITED BY

GOPĪ NĀTHA KAVIRĀJA

THE

ADVAITA VIDYĀTILAKAM

(PART I)



Printed by Jai Krishna Das Gupta
At the Vidya Vilas Press, Gopal Mandir Lane,
Benares City.

1930

श्रीसमरपुङ्गवदीक्षितकृतम्—

अद्वैतविद्यातिलकम्

श्रीधर्म्मय्यदीक्षितकृत 'दर्पण' नामकटीकासहितम्

पण्डित श्रीगणपतिलाल झा शर्म्मणा संशोधितम्

THE

ADVAITA VIDYĀTILAKAM

By

S'RĪ SAMARAPUṄGAVADĪKṢITA

WITH A COMMENTARY BY

S'rī Dharmayya Dīkṣita

Edited with Introduction, etc

By

GANAPATILAL JHA, M. A.,
SADHOLAL RESEARCH SCHOLAR,
Government Sanskrit Library,
BENARES.

1930.

PREFATARY NOTE.

The following edition of the Advaitavidyātilaka by Samara Puṅgava Dīkṣita and its Commentary, called Darpaṇa, by Dharmayya Dīkṣita, is based upon a single manuscript of the work existing in the Sarasvatī Bhavana Library of the Government Sanskrit College, Benares. The work is a Commentary on the Brahmasūtras of Bādarāyaṇa, written after the manner of S'aṅkarāchārya, in the form of eulogistic verses addressed to S'iva. The adhikaraṇas are arranged in proper sequence and carefully summed up in the text.

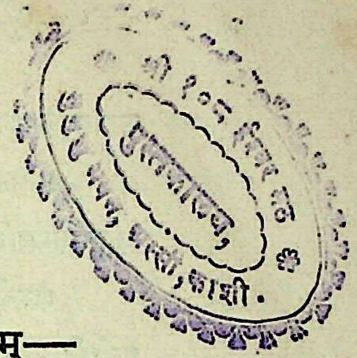
It is presented to the public for the first time in the hope that it may afford some facilities for understanding the true import of the Vedānta Sūtras in the light of S'aṅkarāchārya.

The age and personal details of the authors of the Text and Commentary will be fully discussed in the Introduction which will appear in the second part of the work.

Sarasvatī Bhavana,
Benares.

GANPATI LAL JHA.







श्रीसमरपुङ्गवदीक्षितकृतम्—

अद्वैतविद्यातिलकम् ।

श्रीधर्म्मय्यदीक्षितकृत 'दर्पण' नामकटीकासहितम् ।

दक्षिणोरुनिहितं पदाम्बुजं वेदबोधितमिदं परं पदम् ।
मुद्रयेति विबुधान् विबोधयन् पाटवं दिशतु मे धियः शिवः ॥१॥

दद्यादप्पययायजूकतिलकश्रीसूक्तिभागीरथी
मीमांसापदमानहंसविलसच्चक्राह्वनक्रोज्ज्वला ।
गन्तव्येशसरित्पतिः प्रतिबुधप्रान्तद्रुमैः पातिभि-
र्ज्ञातप्रौढरया सहस्रसरणिः सा मे धियः पाटवम् ॥२॥

अस्ति प्रशस्तचरितो भुवि मित्रमिश्रः
शाण्डिल्यगोत्रकलशाम्बुधिलब्धजन्मा ।
पुंसः परस्य हृदयङ्गमकौस्तुभोऽसौ
सर्वासु दिक्षु विततोर्जितकीर्त्तिराशिः ॥ ३ ॥

विकासयति पङ्कजं जगति घर्म्मरश्मिः स्फुटं
विरिञ्चिशिवकेशवप्रमुखदेवपूजापरः ।

करास्बुरुहकुड्मलः सरलमित्रमिश्रस्य भो
विकासि करनीरजं कलयतेतरामर्थिनाम् ॥४॥

अद्वैतविद्यातिलकाभिधाना
शम्भोः स्तुतिः सामरपुङ्गवीया ।
तनोति टीकां बुधमित्रमिश्र-
सम्प्रेरितो धर्म्मयदीक्षितोऽस्याः ॥ ५ ॥

यद्यपि—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा', 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्', 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥'—इत्यादिश्रुतिस्मृतिसन्दोहसम्प्रतिपन्नं निरस्तसमस्तकर्तृकर्मादिभेदप्रपञ्चम् अखिलवाङ्मनसपथातीतं निर्गुणं शिवतत्त्वं न स्तुतिगोचरीकर्तुं शक्यं, तथाऽपि—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्', 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्', 'अमूर्तं यत्परं ब्रह्म सादरश्रुतिचोदितम् । सर्वव्यापि सदा नित्यं सत्यं द्वैतविवर्जितम् । तस्येदमैश्वरं रूपं खण्डचन्द्रावतंसकम् । तमालश्यामलगलं लसद्भालविलोचनम्'—इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतप्रतिपन्नं स्वाधिष्ठिताऽनिर्वचनीयमायाकल्पितगुणादिविभागम् अजाव्ययाद्यनन्तमङ्गल्यगुणमणिगणरत्नाकरं नीलकण्ठत्वविरूपाक्षत्वादिविशिष्टशुद्धतत्त्वमयाविविधविग्रहविभ्राजमानम् उन्मनान्तसकलभुवनातीतसोमलोकाख्यपरशिवपुरनियतविहिताविर्भावम् उमासहायं परशिवशब्दितं फलाध्यायतुरी-

यपादतृतीयाधिकरणे 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' इत्यत्र बद्धपुरुषापेक्षया सगुणं मुक्तपुरुषापेक्षया निर्गुणं प्रतिपादितं तमेव परमेश्वरं स्तोतुकामः आदौ शिष्टाचारपरिप्राप्तं मङ्गलं श्लोकद्वयरूपेण कृतं प्रबन्धादौ निबध्नाति—

कल्याणानि करोतु वः स भगवान् कात्यायनीनन्दनो
यस्याभ्यन्तरमम्बिकाजनकयोर्यातस्य लीलाविधौ ॥
साकं भाति तदाननैर्मुखततिः छायाधि स्पर्धया
स्वात्मानं बहुधेव संभृतवतश्चन्द्रस्य बिम्बावलिः ॥१॥

पुत्रोमाविशिष्टशिवानुसन्धानं तत्क्रतुन्यायेन स्वस्याऽपि तादृशगुणप्राप्त्यर्थमिति कवेर्हृदयम् । 'तस्मात्सह तया शक्त्या हृदि पश्यन्ति ये शिवम् । तेषां शाश्वतिकी सिद्धिर्नेतरेषामिति श्रुतिः ॥' इति ॥ १ ॥

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ।' इत्यादिश्रुतिभिः उमाविशिष्टशिवानुसन्धानस्य परमपुरुषार्थ-हेतुत्वावगमात् गुरुरूपेण शिवानुसन्धानं शास्त्रार्थस्फूर्तिहेतुरिति शक्तिविशिष्टशिवरूपं गुरुमनुसन्धत्ते—

अङ्कस्थायाः किमपि वलता हैमवत्याः कुचाग्रे
व्याचक्षाणं मदननिगमान् वामहस्ताम्बुजेन ॥

अन्येनाऽर्थानकृतकगिरामञ्चता बोधमुद्रा–
मीक्षे साक्षादखिलजगतामीशमाद्यं गुरूणाम् ॥ २ ॥

इति ॥ २ ॥

सकलनिगमा अपि त्वां स्तोतुं चकितचरिताः सन्तः कथञ्चन त्वां स्तुवन्ति मादृशस्य का गतिरित्याशङ्क्य स्तोत्रेण सम्भावितापराधं परमेश्वर एव दूरीकरोत्विति प्रार्थयते––

क्वाऽहं जडः क्व च कुलाद्रिसुतापते त्वं
निर्धारणीयमहिमा निगमैरनन्तैः ॥
तस्य स्तुतिं तव विधातुमभीप्सतो मे
डिम्भस्य चापलमिदं धिनुतान्मनस्ते ॥३॥

[१ जिज्ञासाधिकरणम्]

अथातोब्रह्मजिज्ञासा । (ब्र०सू०१।१।१)

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र आत्मदर्शनं फलमुद्दिश्य तत्साधनश्रवणं विधीयते । श्रवणं नामाऽद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यावधारणानुकूलो व्यापारविशेषः । ब्रह्मविचारात्मकं शास्त्रमारभ्यं न वेति विषयप्रयोजनसद्भावाभावाभ्यां संशये पूर्वपक्षः । 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यैर्निश्चितत्वात् ब्रह्म-

णः सन्देहाभावान्न विचारविषयत्वं, प्रयोजनाभावाच्च 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इति वाक्यैर्ब्रह्मनिर्णये सत्यपि अविद्यानिवृत्तिरूपफलाऽदर्शनादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

प्रत्यक्तया वदति वेदशिखा भवन्त-
मन्यात्मना कलयते तमहंप्रतीतिः ।
आत्मस्वरूपमवधारयितुं त्वदीयं
धन्यो वृषाङ्क तनुते श्रवणं विमुक्त्यै ॥ ४ ॥

वेदान्ताः हे वृषाङ्क त्वां 'अयमात्मा ब्रह्म' इति जीवाभिन्नं वदन्ति । प्रत्यक्षं तु नाऽहमीश्वर इति तद्विरुद्धमर्थं विषयीकरोति । अतः प्रमाणद्वयबलाबलानिरूपणात् संशये साधनचतुष्टयसम्पन्नः मुक्तिफलाय श्रवणं तनुते इत्यर्थः । स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, काणोऽहं, बधिरोऽहम्, इत्याद्यहंप्रत्ययानां दृष्टविसंवादतया पूतिकूष्माण्डायमानोऽहमीश्वराद्भिन्न इति प्रत्ययो बाध्यते श्रुत्येति । न चैवं 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवाक्यार्थज्ञाने सत्यपि अज्ञाननिवृत्त्यदर्शनेन प्रयोजनाभावादिदमनारम्भणीयमिति वाच्यम्, असम्भावनाविपरीतभावनारूपप्रतिबन्धकसत्त्वान्न तेन तन्निवृत्तिः, न हि प्रतिबन्धदशायां तृणाद्यदाहकस्य वह्नेस्तद्दाहकत्वं हीयते । मनननिदिध्यासनाभ्यां तन्निवृत्तावविद्या निवर्तेत एवेति सप्रयोजनं च शास्त्रमारम्भणीयमेवेति । विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तसङ्गतीनामाधारोऽधिकरणम् ॥ ४ ॥

[२ जन्माधिकरणम्]

जन्माद्यस्य यतः । (ब्र०सू०१।१।२)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्', 'सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शंभुः' इत्यादिविषयः। प्रयन्ति म्रियमाणानीत्यर्थः । इह श्रूयमाणं लक्षणं घटते न वेति संशयः । जन्मादिकं वा जन्मादिकारणत्वं वा तटस्थलक्षणं न संभवति । जन्मादीनां जगन्निष्ठत्वेन ब्रह्मसम्बन्धाभावात् । द्वितीयं तु कल्पितं ब्रह्मणि वर्तते तथाऽपि कल्पितेन कथं सत्यं ज्ञापनीयं क्वाऽप्यदर्शनात् । स्वरूपलक्षणमपि न घटते, लोकप्रसिद्धसत्यज्ञानादिस्वीकारे भिन्नार्थत्वादखण्डं ब्रह्म न सिद्ध्येत् । अप्रसिद्धस्य सत्यादेर्लक्षणत्वमयुक्तं तस्माल्लक्षणद्वयमप्यनुपपन्नमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

आशीविषो य इह रज्जुरसावितीव
यत्कारणं स शिव इत्युपपत्तिलाभात् ।
सत्यादिशब्दनिकरैरपि चैत्यसिद्धे-
रङ्कद्वयं तव न दुर्घटमङ्गजारे ॥ ५ ॥

जन्मादिकमन्यनिष्ठमपि शाखाग्रं चन्द्रमसमिव ब्रह्म लक्षयेत् । जगत्कारणत्वं ब्रह्मणि कल्पितं ब्रह्म ज्ञापयेदेव, योऽयं सर्पः सैव रज्जुरित्यत्र मिथ्याभूतस्यापि सत्यज्ञापकत्वदर्शनात् । यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्मेति लक्षयितुं शक्यत्वात् । भिन्नार्थानामपि पितृसुतभ्रातृजामात्रादिशब्दानामेकदेवदत्तपर्यवसायित्वे यथा न विरोधस्तथा लोकसिद्धभिन्नार्थवाचिसत्यादिशब्दानामखण्डब्रह्मपर्यवसायित्वे स्वरूपलक्षणसिद्धिरिति लक्षणद्वयमप्युपपन्नम् । श्लोकार्थः स्पष्ट एव । इह देशे यो भोगीति ज्ञातः स एव रज्जुरिति मिथ्याभूतस्य सर्पस्य सत्यरज्जुज्ञापकत्वदर्शनादिति ॥ ५ ॥

[३ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्]

शास्त्रयोनित्वात् । (ब्र०सू० १।१।३)

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इति श्रूयते विषयः । यदृग्वेदादिकमस्ति तदेतस्य नित्यसिद्धस्य ब्रह्मणो निश्वास इवाप्रयत्नेन सिद्धमित्यर्थः । ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वं युक्तं न वेति संदेहे न युक्तमिति पूर्वः पक्षः । वाचा विरूपनित्ययेत्यादेर्वाचो नित्यत्वप्रतिपादिकाया: श्रुतेर्विरोधात्, वेदानां ब्रह्मकार्यत्वे पौरुषेयत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । तस्मात् ब्रह्मणो न वेदकर्तृत्वमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

सर्वज्ञतां वहसि यत्नसमुत्थितेन
विश्वावभासकरवेदनिबन्धनेन ॥

पूर्वोक्तश्रुतेर्निश्वसितवद्वेदराशेरप्रयत्नेन ब्रह्मणः प्रादुर्भावावगमात्, 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्' इति श्रुतेश्च, वेदकर्तृत्वसिद्धिः। स्वात्मनि विलीनानां वेदानां पूर्वपूर्ववर्णानुपूर्व्यनुरूपरचनया पुनः कर्त्ता भवति सर्वज्ञः परमेश्वरः । अत एव वेदानामपौरुषेयत्वमीश्वरकार्यत्वं च। अतो निरस्तसमस्तदोषस्यावाप्तसमस्तकामस्य परमेश्वरस्य वचनं प्रमाणमेव । अतः सर्ववस्त्ववभासकानां वेदानां कर्तृतया परमेश्वरस्य सर्वज्ञता निश्चीयते, अज्ञातस्य वक्तुमशक्यत्वादिति ब्रह्म सर्वज्ञमिति सिद्धम् ।

अत्र वर्णिकान्तरमुच्यते—

अत्र जगत्कारणं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यमुत प्रमाणान्तरेणापि वेति सन्देहः । सावयवत्वेन जगतः कार्यत्वं प्रसाध्य कार्यत्वेन प्रपञ्चः स्वोचितकर्तृक इति कश्चित् कल्पनीयः सर्वज्ञत्वादिमान् । नासौ शास्त्रैकगम्य इति नास्मिन् शास्त्रस्य प्रामाण्यं, शास्त्रस्य प्रमाणान्तराप्राप्तविषयत्वात्, इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तयति—

रूपादिमत्त्वविरहादपि लोचनादि-
सीमातिगश्रुतिशिरोनिकरैकवेद्यः ॥ ६ ॥

जगत्कारणं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रैकगम्यम् । 'नावेदविन्मनुते

तं बृहन्तम्' इत्यादौ शास्त्रमन्तरेण ब्रह्मणो बोधासंभवश्रवणात् । यदुक्तमनुमानेन कर्तृसिद्धिरिति तदसत्, विचित्ररचनस्य गोपुरप्रासादादेर्बहुकर्तृकत्वदर्शनेन नानुमानेनैककर्तृकत्वसिद्धिः । व्याप्तिबलेन तस्य कर्मवश्यत्वादिकमपि सिद्ध्येत् । विलक्षणैककर्तृसिद्धावपि निमित्तोपादानशक्तियुक्तैककर्तृसिद्धिस्ततो नास्त्येव । तस्माद्वेदान्तैकगम्यं ब्रह्मेति सिद्धम् । श्लोकार्थस्तु—निःश्वासवदयत्नसिद्धेन सर्वविषयज्ञानजनकेन त्वत्कर्तृकवेदप्रबन्धेन सर्वज्ञत्वं तव सिद्धम् । ब्रह्म रूपादिहीनत्वात् प्रत्यक्षं न भवति, तद्व्याप्तलिङ्गाभावान्नानुमानगम्यमतः श्रुत्येकवेद्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

[४ समन्वयाधिकरणम्]

तत्तु समन्वयात् (ब्र०सू० १।१।४)

अत्र सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि विषयाः । सर्वे वेदान्ताः ब्रह्म स्वप्राधान्येन प्रतिपादयन्ति न वेति संशयः । न प्रतिपादयन्ति । जीवप्रकाशकवाक्यानि कर्तृपराणि, ब्रह्मप्रकाशकवाक्यानि देवतापराणि, सृष्टिप्रकाशकवाक्यानि साधनपराणि । तथा सति वेदान्तानामनुष्ठानोपयोगित्वं भविष्यति । ब्रह्मपरत्वे त्वनुष्ठानासंभवात् निःप्रयोजनत्वं स्यात् । तस्माद्वेदान्ताः कर्तृदेवतासाधनप्रतिपादनपरा इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

हे वाक्लिङ्गनिवहेन भवन्तमेव
प्राचीनवागवधयः प्रतिपादयन्तः ।

ब्रह्मपराः वेदान्ताः, भिन्नप्रकरणपठितानां तेषां कर्तृत्वादि-प्रतिपादकतया कर्मशेषत्वासंभवात्, तात्पर्यनिश्चयहेतुभिः षड्भि-र्लिङ्गैर्ब्रह्मपरत्वसंभवाच्च । तानि च—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽ-पूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये' इति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रमः । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्युपसंहारः । तयोर्ब्रह्मवि-षयत्वेनैकरूप्यमेकं लिङ्गम् । असकृत्तत्त्वमसीत्युक्तैरभ्यासः । मानान्तरागम्यत्वमपूर्वता । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम् । सृ-ष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनप्रतिपादकानि वचनान्यर्थवादाः । मृ-दादिदृष्टान्ता उपपत्तिः । एतैर्लिङ्गैः स्वातन्त्र्येण [वेदान्ताः] ब्रह्म-परा एव । न चानुष्ठानमन्तरेण प्रयोजनाभावः, 'नायं सर्पः' इत्यादाविव बोधादनर्थनिवृत्तेः संभवात् ।

वर्णकान्तरमेकदेशी मन्यते—

ब्रह्मपरत्वेऽपि न वेदान्ता ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्ति, पारो-क्ष्येण ब्रह्मतत्त्वं प्रतिपाद्य पश्चादपरोक्षप्रतिपत्तिं विदधति । तथा च सति वेदान्तानां शासनाच्छास्त्रत्वमुपपद्यते । किञ्च, 'श्रोत-व्यः' इति श्रवणं शाब्दज्ञानात्मकं विधायाथ 'मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः' इत्यनुभवज्ञानात्मकं मननादिकं स्पष्टमेव विधीयते ।

तस्मात् प्रतिपत्तेर्विधातारो वेदान्ता इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

कार्येतरग्रहविधौ विमुखा भजन्ते
त्वय्येव पर्यवसितुं तुहिनांशुमौले ॥ ७ ॥

न प्रतिपत्तिविधिः संभवति, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यत्वेनापुरुषतन्त्रत्वात् । शास्त्रत्वं तु नानुष्ठेयशासनादेव नियतं, सिद्धवस्तुशंसनेनापि तदुपपत्तेः । शाब्दज्ञाने जाते पश्चात्तदनुभवात्मकं मननादिकं विधीयते इति वक्तुं न युक्तं, दशमस्त्वमसीतिवत् शब्दस्यैवापरोक्षानुभवजनकत्वेन शाब्दबोधात्पुरैवासंभावनाविपरीतभावनानिवृत्तये व्यापाररूपस्य कर्तृपरतन्त्रस्य मननादेर्विधानात् । तस्मात्तत्त्वमसीत्यादयो वेदान्ताः ब्रह्मणि व्यवस्थिता इति । श्लोकार्थस्तु, वेदान्तास्तात्पर्यलिङ्गैर्भवन्तमेव प्रतिपादयन्तः पुरुषकृत्यसाध्यज्ञानविधौ विमुखाः सन्तश्च हे तुहिनांशुमौले त्वय्येव पर्यवसितिं भजन्त इति ॥ ७ ॥

[५ ईक्षत्यधिकरणम्]

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।(ब्र०सू० १।१।५)

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति प्रस्तुत्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इति । तत्र सांख्या मन्यन्ते—सच्छब्दवाच्यं सर्वजगत्कारणं प्रधानं न तु ब्रह्म, प्रधानस्य सत्त्वगुणयु-

क्ततया परिणामितया च ज्ञानक्रियाशक्तिसम्भवात् , निर्गुणस्य कूटस्थस्य तदसंभवादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

निध्यातृभावकथनादपि नामरूप-
व्याकर्तृदैवतपराद्पि चात्मशब्दात् ।
छान्दोग्यवाक्यगतसत्पदवेदनीयो
हेतुस्त्वमेव जगतामसि चन्द्रमौले ॥ ८ ॥

ईक्षितृत्वश्रवणाच्चेतनं ब्रह्म सच्छब्दवाच्यम् । अचेतनस्य प्रधानस्येक्षितृत्वासम्भवात् । ज्ञानक्रियाशक्ती तु ब्रह्मणि मायया सम्भाविष्यतः । किञ्च 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति नामरूपव्याकर्त्री जगत्कारणदेवता स्ववाचकेन शब्देन चेतनं जीवं व्यपदिशति, तथा 'तत्त्वमसि' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्जगत्कारणतादात्म्यं गुरुरुपदिशति । तदुभयमपि अचेनतस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे विरुध्यते । 'पुरु वै रुद्रः सन्महो नमोनम' इति श्रुतौ शिवस्य सच्छब्दवाच्यत्वं दृश्यते । तस्माच्चेतनं ब्रह्म सच्छब्दवाच्यं कारणमिति सिद्धम् ॥ ८ ॥

[६ आनन्दमयाधिकरणम्]

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (ब्र०सू०१।१।१२)

'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्या-

रूस्य 'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्ष, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा,' इति श्रूयते विषयः । तैत्तिरीयके देहप्राणमनोबुद्ध्यानन्दरूपा अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयसंज्ञिताः पञ्चपदार्थाः क्रमेण एकैकस्मादान्तराः पठिताः । तत्र सर्वान्तरस्यानन्दमयस्य 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ब्रह्मानन्दमयस्याङ्गत्वेन निर्दिश्यते, उत स्वयं प्राधान्यतः प्रतिपाद्यत इति संशये सति, आनन्दमयस्यावयवत्वेनेति तावत्प्राप्तम् । लोके पुच्छशब्दस्यावयववाचित्वेन प्रसिद्धत्वादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

> पुच्छोक्तिलक्ष्यपुरुषाश्रयभावशालि-
>
> ब्रह्मावबोधजनिका भणितिः पुराणी ।
>
> त्वद्गोचराभ्यसनतस्त्वदुपक्रमाच्च
>
> प्राधान्यतः शिव भवत्प्रतिपादयन्ती ॥९॥

उच्यते-न पुच्छशब्दोऽवयववाची किन्तु लांगूलवाची । नचानन्दमयस्य लांगूलमस्ति, लांगूलस्य गवादिलक्षणत्वात् । अतः पुच्छशब्दस्य मुख्यार्थासम्भवे सति योग्यतावशादत्राधारो लक्ष्यते । आनन्दमयस्य ब्रह्माधारः, तत्कल्पनाधिष्ठानत्वात् । न चानन्दमयः परमात्मा । प्राचुर्यार्थस्य स्वीकारेऽपि अल्पदुःखसद्भावप्रतीतेः । तस्माज्जीवाधारो ब्रह्म प्राधान्येन प्रतिपाद्यते । तथा,

'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यादौ ब्रह्माभ्यासो 'ब्रह्मविदाप्नोति परमिति' ब्रह्मोपक्रमश्चानुकूलो भवति । पञ्चावयवयुक्तपक्षित्वेन कल्पनं प्रतिपत्तिसौकर्याय, अपेक्षितविषयदर्शनजन्यं सुखं प्रियं, तल्लाभजन्यं सुखं मोदः, तद्भोगजन्यं सुखं प्रमोदः, भासमानमज्ञानोपहितं सुखसामान्यमानन्द इति विषयवाक्यपदानामर्थ इति ज्ञातव्यम् ॥ ९ ॥

[७ अन्तराधिकरणम्]

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । (ब्र०सू० १।१।२०)

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' इति श्रूयतेऽस्य विषयः । अत्रादित्यमण्डलान्तः श्रूयमाणः कश्चिज्जीवो वा परमेश्वरो वेति सन्देहे देवताविशेषो जीव एव, ऐश्वर्यमर्यादाया आधारस्य शरीरस्य च श्रवणात्—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' इति, 'अन्तरादित्य' इति च, 'हिरण्मयः पुरुष' इति च । नहि सर्वेश्वरस्य सर्वाधारस्य नीरूपस्य परमेश्वरस्य ऐश्वर्यमर्यादाधाररूपाणि सम्भवन्ति । तस्मात् देवताविशेष इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

ऋङ्मुख्यसर्वभुवनाश्रयतोपदेशा-
न्निःशेषदोषरहितत्वविशेषणाच्च ।
मन्यामहे मिहिरमण्डलमध्यभाजं
त्वामेव भर्ग तपनीयमयं पुमांसम् ॥ १० ॥

उच्यते—हिरण्मयः पुरुष ईश्वरो भवेत् । कुतः, सर्वात्मत्व-श्रवणात्—'सैव ऋक् तत्साम तदुक्थं तद्यजुः' इत्यादि-वाक्येन तच्छब्दैः प्रकृतं हिरण्मयं पुरुषं परामृश्य तस्य ऋक्सा-माद्यशेषजगदात्मकत्वमुपदिश्यते । तच्चाद्वितीयपरमेश्वरे मुख्यमुप-पद्यते नतु सद्वितीयायां देवतायाम् । तथा 'स एष सर्व्वेभ्यः पा-प्मभ्य उदित' इति श्रूयमाणं सर्वपापराहित्यं ब्रह्मणः सा-धारणं लिङ्गम् । यद्यपि देवतायाः कर्मण्यनधिकारात् क्रियमाणकरिष्यमाणपापयोरभावः तथाप्यसुरादिनिमित्तजनित-दुःखसद्भावात्तद्धेतुभूतजन्मान्तरसंचितदुरितमनुवर्तत एव । म-र्यादाधाररूपाणि तु उपाधिधर्मतया सोपाधिके परमात्मन्यु-पास्ये वर्त्तितुमर्हन्ति । ननु मण्डलान्तर्वर्ती न परमेश्वरः 'पुण्डरी-कमेवमक्षिणी' इति अक्षिद्वयकथनानुपपत्तेरिति चेत्, त्रिपुत्रं ब्राह्मणं प्रति द्वौ पुत्रावस्याग्निकल्पावित्युक्ते द्विसंख्याग्रहणं न शेषपुत्रनिषेधपरं किन्तु पुत्रद्वयस्याग्निसादृश्यपरम्, तद्वदत्रापि कमुदकं रश्मिभिः पिबतीति कप्यः सूर्यः तेनासितं विकासितं पुण्डरीकं यथा स्फुरति तथा परमेश्वरस्य लोचनद्वयं, तृतीयलो-

चनं तु मुकुलितस्वभावमिति तथोक्तिः । 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलम्' इत्यादित्यमण्डलमुक्त्वा, तत्र 'य एष एतन्मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते' इति मण्डलप्रभामुक्त्वा, 'य एष एतस्मिन्मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः' इति मण्डलाभिमानिनं सूर्यमभिधाय 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' इति हिरण्मयं पुरुषमादित्यान्तर्य्यामिणमुक्त्वा, पुनः 'आदित्यो वै तेज ओजो बलम्' इत्यादिना तस्यादित्यरूपस्य विभूतिमभिधाय, 'एष पुरुष एष भूतानामधिपतिः' इति भूतपतित्वेन निर्दिश्य, पुनः कीदृशः पुरुष इत्याकाङ्क्षायां 'सर्वो वै रुद्रः' इत्यारभ्य 'हिरण्यबाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतय उमापतये' इत्युपसंहृतं बाहुग्रहणस्योपलक्षणत्वात् हिरण्यरूप इति तात्पर्यम् । 'असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उत एनं । गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः । उत एनं विश्वाभूतानि स दृष्टो मृडयाति नः' इत्यादि वचनजातैरादित्यान्तर्यामी शिव इति सिद्धम् । श्लोकार्थस्तु-सैवक्सामेत्यादिना सकलभुवनाश्रयतोपदेशात् 'स एष सर्व्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपापरहितत्वाच्च हे भर्ग त्वामेवादित्यान्तर्य्यामिणं पुरुषं हिरण्मयं मन्यामह इति ॥ १० ॥

[८ आकाशाधिकरणम्]

आकाशस्तल्लिङ्गात् । (ब्र०सू०१।१।२२)

'आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति छान्दोग्येऽस्य विषयः श्रूयते। शालावत्येन ब्रह्मर्षिणा सर्वलोकाधारे वस्तुनि पृष्टे सति प्रवाहणो राजोत्तरमाह। तत्रत्यं वाक्यमेतत्। तत्राकाशशब्दवाच्यो भूताकाशो ब्रह्म वेति संशये रूढत्वाद्वियदिति प्राप्तम्। 'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' इत्यादिना वाय्वादीनां वियत्कार्यत्वश्रवणादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

वेदप्रतीतिदृढरूढिवियत्समेत-
भूतावलीजनकतासहकृत्वरीभ्याम्॥
ज्यायस्त्वकर्मफलदानसमर्थताभ्या-
माकाशवागभिदधाति भवन्तमेव॥ ११॥

ब्रह्मैवाकाशशब्दवाच्यम्, 'सर्वाणि ह वा' इत्यत्रासंकुचितसर्वशब्देन वियत् + + हि सर्वभूतोत्पत्तिहेतुत्वश्रवणात्। नच वियतो वियद्धेतुत्वं सम्भवति। रूढिस्तु लौकिकी वियत्येवास्तु, श्रौती तु ब्रह्मण्यपि 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इति प्रयोगदर्शनात्। किंचाकाशादेवेत्येवकारः कारणान्तरं निरस्यति। न चैतद्वियत्पक्षे सम्भवति, घटादिषु वियद्व्यतिरिक्तानां मृदादिकारणानामुपलम्भात्। ब्रह्मपक्षे ब्रह्मणः स-

द्रूपस्य सर्वानन्यतया कारणान्तरव्युदास उपपद्यते । ज्याय-स्त्वपरायणत्वे श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणि श्रूयते, 'ज्यायानन्तरिक्षात्' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' इति कर्मफलं दातुं समर्थमित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मैवाकाशशब्दवाच्यमिति । श्लोकार्थस्तु–'आकाशो वा' इत्यादि वैदिकप्रयोगेण ज्ञातरूढ्या-काशादिपदेन भूतजनकत्वेन च सहकृताभ्यां ज्यायस्त्वफलदातृ-त्वाभ्यां हे शिव आकाशपदं त्वामेवाभिदधातीति ॥ ११ ॥

[९ प्राणाधिकरणम्]

अत एव प्राणः । (ब्र०सू० १।१।२३)

छान्दोग्ये प्रस्तावनाम्नः सामभागस्य देवतायां प्रस्तोतृ-पृष्टायामुषस्तिरुत्तरं ददौ । तद्वाक्यमेतत्–'प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणम-भ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इति । तत्र प्राण-शब्दार्थो मुखबिलान्तर्वर्तिवायुर्भवेत्, सर्वभूतलयस्य तत्र सुसंपा-दितत्वात्, सुषुप्तिकाले भूतसाराणामिन्द्रियाणां वायौ प्रविलया-दिति प्राप्ते सिद्धान्तयति–

सर्वप्रपञ्चविलयाश्रयतामनन्य-
साधारणीमुपदिशन्नवधारणेन ।

प्राणाख्यया पशुपते पृथिवीसुरस्त्वां
प्रस्तावदैवतमवोचदुषस्तिनामा ॥ १२ ॥

इन्द्रियमात्रविलयपरत्वे व्याख्यायमाने 'सर्वाणि ह वा' इत्यत्रामौ सर्वशब्दः सङ्कुचितार्थः स्यात् । अत आकाशशब्दवत्प्राणशब्दोऽपि श्रौतरूढ्या ब्रह्मवाचकः । अस्ति हि प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि श्रौतरूढिः, 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यत्र ब्रह्मविवक्षया द्वितीयप्राणशब्दप्रयोगात् । तस्मादीश्वरः प्राण इति । श्लोकार्थस्तु—सर्वमपञ्चलयकारणत्वमेव कारणेनानन्यसाधारणमुषस्तिनामा द्विजः त्वामत्र प्रस्तावदैवतमवोचदिति ॥१२॥

[१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम्]

ज्योतिश्चरणाभिधानात् । (ब्र०सू१।१।२४)

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' इत्यादि । अत्र सकललोकव्याप्तता(?)न्याधिविश्रूयमाणमपरज्योतिः परमेश्वरो वा तदन्यो वेति संशयः । द्योशब्दस्याकाशवाचित्वात् 'परो दिव' इत्याकाशवर्ती सूर्य एवात्र प्रतिपाद्यते ज्योतिरिति, अथवा 'अन्तः पुरुषे ज्योतिः' इति पुरुषान्तर्वर्तितया जठराग्निरिति वा, पूर्वं ब्रह्मणोऽसन्निहितत्वात् तेन वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वायोगात्, तेजः—

परत्वं तु लिङ्गसद्भावादिति भाष्ये सिद्धान्तयति—

त्वामादितः प्रकृतमेव निजैकदेश-
विश्रान्तविश्वमधिकृत्य यदित्यनेन ।
छान्दोग्यनाम्नि समुदीरितमागमान्ते
ज्योतिःपदं निविशतां त्वनु शूलपाणे ॥ १३ ॥

असिद्धोऽसन्निधिः । पूर्वस्मिन्गायत्रीखण्डे 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति चतुष्पदो ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, तस्य चात्र प्रकृतवाचिनाऽथशब्देनानुवर्तनादस्य ब्रह्मणः सर्वाणि भूतान्येकांशः, पादत्रयोपलक्षितमनन्तं स्वरूपं, द्युनामके स्वस्मिन्नवतिष्ठत इत्यर्थः । न चैतत्संभवति जठराग्निसूर्ययोः । नच ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्त्यनुपपत्तिः, ब्रह्मणो जगद्भासकत्वात् । तेजोलिङ्गं त्वौपाधिके ब्रह्मण्यपि कल्पते । तस्माज्ज्योतिर्ब्रह्म । श्लोकार्थस्तु—पादोऽस्य सर्वा भूतानी-त्यादौ प्रकृतनिजैकांशसमाप्तनिखिलप्रपञ्चं त्वामेव 'यदतः परः' इत्यत्र यच्छब्देन परामृश्य छान्दोग्यनाम्नि तदुपरि पठितं ज्योतिःपदं कुत्र वान्वेतु त्वां विना न कुत्रापीत्यर्थ इति ॥ १३ ॥

[११ प्रतर्दनाधिकरणम्]

प्राणस्तथानुगमात् । (ब्र० सू० १।१।२८)

कौषीतकोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनोपाख्यायिकायां प्रतर्दनं प्रतीन्द्रो वक्ति–'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इति तत्र चतुर्विधलिङ्गवशाच्चतुर्धा संदिह्यते-इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्, अस्मीति वक्तुरिन्द्रस्याहंकारवाद इन्द्रस्य लिङ्गम्, वक्तारं विद्यादिति वक्तृत्वं जीवस्य लिङ्गम्, आनन्दोऽजरोऽमृत इति ब्रह्मलिङ्गम् । तत्र प्राबल्यदौर्बल्यविवेकाभावादनिर्णय इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

वाक्ये कृतान्तविजयिन्बलशासनस्य
कौषीतकोपनिषदन्तरधीयमाने ।
प्राणाभिधा हिततमे भजतामघौघ-
संहर्तृबोधविषये त्वयि जाघटीति ॥ १४ ॥

सन्त्यत्र ब्रह्मणोऽनेकानि लिङ्गान्यनन्यथासिद्धानि । तद्यथा—'त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति हिततमत्वमेकं लिङ्गम् , 'यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन' इति ज्ञानमात्रेणैव महापातकाद्यश्लेष इति परं लिङ्गम् । एवमन्यान्यपि लिङ्गानि ज्ञातव्यानि । न चैतानि प्राणेन्द्रजीवपक्षेषु कथंचिदप्युपपादयितुं शक्यन्ते । प्राणादिलिङ्गानि तु ब्रह्मण्युपपद्यन्ते प्राणादीनां ब्रह्मबोधद्वारत्वात् । तथा च

ब्रह्मलिङ्गानामनेकत्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च प्राबल्यं, तस्माद्ब्रह्मै-
वात्र प्रतिपाद्यमिति सिद्धम् । श्लोकार्थस्तु—हे कृतान्तशत्रो
कौषीतक्योपनिषदि पठ्यमाने 'प्राणोऽस्मीति' वाक्ये प्राणशब्दः
सकलपापनिवर्त्तकज्ञानविषये त्वय्येव वर्त्तत इति ॥ १४ ॥

इति श्रीमत्परशुराममिश्रात्मजामित्रमिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्ट-
सूनुधर्मय्यदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

[१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम्]

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । (ब्र०सू० १।२।१)

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः—'मनोमयः प्राणशरीरो
भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः
सर्वगन्धः' इत्यादि । अत्र मनोमयत्वादिधर्मकश्रूयमाणः
पुरुषः परमेश्वरो वा जीवो वेति संशयः। जीव इति पूर्वः पक्षः,
मनस्सम्बन्धादीनां जीवे सम्भवात् । मनसो विकार इति मन-
स्सम्बन्धः । प्राणः शरीरस्येति प्राणसम्बन्धः । न चेदमीश्वरे
सम्भवति । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति निषेधात् ।
तथा 'एष आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्' इति श्रूयमाणमणीयस्त्वं

हृदयेऽवस्थानं च निराधारस्य सर्वगतस्य न सम्भवति । सत्यसङ्कल्पत्वमपि सति ब्रह्मण्यसङ्कल्प इति जीवेऽपि योजनीयमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

सर्वप्रसूतिलयजीवनकारणत्व-
संसिद्धकृत्स्नजगदात्मकतैकहेतोः ।
द्वेषाभिलाषविषयापगमेन शान्त-
स्त्वामन्तरञ्चति मनोमयतादिधर्मैः ॥ १५ ॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येतस्मिन् शमविधिपरे पूर्ववाक्ये श्रूयमाणं यद्ब्रह्म तदेव 'मनोमयः' 'प्राणशरीर' इत्येताभ्यामपेक्ष्यते विशेष्यत्वेन । शमवाक्यस्यायमर्थः—यस्मात् सर्वमिदं ब्रह्म, तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदनत्वाच्च तज्जलात्, तस्मात् सर्वात्मके ब्रह्माणं रागद्वेषविषयत्वासम्भवादुपास्तिकाले शान्तो भवेदिति तद्वाक्यगते ब्रह्मणि विशेष्यत्वेनान्विते मनोमयवाक्यमपि ब्रह्मपरं भविष्यति । न च ब्रह्मणो मनस्सम्बन्धाद्यनुपपत्तिः, निरुपाधिके तदनुपपत्तावपि सोपाधिकस्योपास्यचिन्तनार्थतया तदुपपत्तेः । तस्मात्सर्वेष्वपि वेदान्तवाक्येषु यद्ब्रह्म उपास्यत्वेन प्रसिद्धं तदेवात्राप्युपास्यम् । न हि क्वचिदपि वेदान्तेषु जीवस्योपास्यत्वं प्रसिद्धम् । ततो ब्रह्मैवेति सिद्धम् । अथर्वशिरस्यपि सर्वस्य शिवात्मकत्वमुक्तम्-'दे-

वा ह वै स्वर्गलोकमगमन् देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति । सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नचान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति'। उक्तं च शिवपुराणे—'वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा। शिवस्य पूजया तद्वत्पुष्यत्यस्य वपुर्जगत् । सर्वोपकारकरणं सर्वानुग्रहणं तथा। सर्वाभयप्रदानं च शिवस्याराधनं विदुः। देहिनो यस्य कस्यापि निग्रहः क्रियते यदि । अनिष्टमष्टमूर्त्तेस्तन्नात्र कार्या विचारणा'। सर्वस्यापि शिवात्मकत्वात् शान्त एवोपासीतेति ॥ १९ ॥

[२ अत्त्रधिकरणम्]

अत्ता चराचरग्रहणात् । (ब्र०सू१।२।९)

कठवल्यामाम्नायतेऽस्य विषयः । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति । अस्यार्थः—मृत्यूपसेचनमिलितब्रह्मक्षत्रोपलक्षितनिखिलाचिदचित्प्रपञ्चकवलभोक्तृतया यः पुरुषः स पुरुषो यत्र वर्तते तत्स्थानमिदमित्थमिति को वेद न कोऽपि जानातीति मृत्यूपदंशमिलिताखिलविष्टपान्नभोक्ता प्रतीयमानो जीवोऽग्निरीशो वेति त्रिकोटिकसंदेहे जीव इति 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति जीवस्यात्तृत्वश्रवणात् । अथवाग्निर्भवेत् 'अग्निरन्नादः' इति श्रवणादिति प्राप्ते सि-

द्धान्तमाह—

धर्माद्यतीतमहिमांशुतनूभवस्य
वाणीमुखादवगतं कठवल्लिकायाम्।
मृत्यूपदंशमिलिताखिलविष्टपान्न-
भोक्तारमिन्दुधर निश्चिनुमो भवन्तम् ॥१६॥

मृत्यूपदंशमिलितसकलजगदिह भोज्यत्वेन प्रतीयते । न हि तादृशस्य भोज्यस्येश्वरादन्यो भोक्ता संभवति । किञ्च 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद'इति धर्माधर्मकार्यकारणकालत्रयातीते परमेश्वरे नाचिकेतसा पृष्टे सति 'यस्य ब्रह्म च' इति वाक्येन यम उत्तरं ददौ । तस्मादीश्वरोऽत्र प्रतिपाद्यः । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकाशीति' इति ईश्वरस्य भोक्तृत्वं निषिध्यत इति चेत्, तर्हित्तृत्वं नाम संहर्तृत्वं भविष्यति । तच्चेश्वरस्य सर्ववेदान्तेषु प्रसिद्धम् । अथर्वशिरसि श्रूयते संहर्तृत्वभावः परमेश्वरस्य-'तस्मादुपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः' इति । सर्वान्संहृत्य यः प्रळयकाले वर्तते संहर्ता स शिव एवेति प्रतिपादयति श्वेताश्वतरमन्त्रः–'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः' इति । तस्मात्सर्वसंहर्ता शिव इति सिद्धम्॥ १६ ॥

[३ गुहाप्रविष्टाधिकरणम्]

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । (ब्र०सू० १।२।११)

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इति कठवल्लीषु श्रूयतेऽस्य विषयः । अस्यायमर्थः-सुकृतस्य फलभूतं यद्ब्राह्मणादिशरीरं तत्परस्यार्द्धं परब्रह्मण उपलब्धिस्थानं, तच्च परमं विद्याधिकारहेतुशमदमाद्युपेतत्वात्, तादृशस्य शरीरस्य मध्येऽवस्थितं हृदयपुण्डरीकं गुहा तां प्रविष्टौ द्वौ ऋतशब्दवाच्यं कर्मफलं पिबन्तौ छायातपवत्परस्परविलक्षणौ वेदविदो वदन्तीति । तौ द्वौ बुद्धिजीवौ जीवेश्वरौ वेति संदेहे बुद्धिजीवाविति प्राप्तं, तयोः परिच्छिन्नयोः गुहाप्रवेशसंभवात्, जडाजडरूपत्वेन छायातपवैलक्षण्यसम्भवाच्च, ईश्वरस्य सुकृतफलभोक्तृत्वासंभवाच्च। बुद्धिजीवयोर्भोगस्तु प्रसिद्ध एवेति प्राप्ते सिद्धान्तः—

पुण्यार्जिते त्वदुपलम्भभुवि द्विजाति-
गात्रे हृदम्बुजगतौ परमे शमाद्यैः ।
स्वामिन्नुभौ फलभुजावसमस्वभावौ
जीवं भवन्तमपि वक्ति चिरंतनोक्तिः ॥१७॥

पिबन्ताविति द्विवचनेन द्वयोश्चेतनत्वं प्रतीयते। अतश्चेतनाविह जीवेश्वरौ भवतः। सर्व्वगतस्यापीश्वरस्य हृदयेऽवस्थानमुपलब्धी वर्ण्यते। द्वयोश्चेतनत्वेन साम्येऽपि सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वाभ्यां वैलक्षण्यमुपपद्यते। यदुक्तं सुकृतफलभोक्तृत्वं न संभवतीति, तन्न युज्यते। सुकृतफलं तत्तद्वृत्तिपरिच्छिन्नं सुखं, जीवस्य परिच्छिन्नसुखानुभववत्त्वमीश्वरस्यानवच्छिन्नाखण्डानन्दविषयमायाद्वृत्तिरूपसुखानुभवसंभवात्। एवं च तयोर्भोगस्य साधारण्येन श्रवणेऽपि तत्र विशेषः समाश्रीयते, भोक्तृविशेषात्। यथा राजभृत्यावन्नं भुञ्जात इत्यत्र तत्तदुचितान्नविशेष इति। पुण्यार्जित इत्यनेन सुकृतस्य लोक इत्यस्यार्थः, स्वदुपलम्भभुवीत्यनेन परार्धे इत्यस्यार्थः, हृदम्बुजगतावित्यनेन गुहां प्रविष्टावित्यस्यार्थः, स्वामिन्नुभौ फलभुजावित्यनेन ऋतं पिबन्तावित्यस्यार्थः संगृहीतः। श्लोकार्थः स्पष्टः॥ १७॥

[४ अन्तराधिकरणम्]

अन्तर उपपत्तेः। (ब्र०सू० १।२।१३)

छान्दोग्ये उपकोसलविद्यायामुपकोसलं शिष्यं प्रति सत्यकामेन गुरुणोपदिष्टवाक्यमध्यगतमेतत्—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति' इति श्रूयतेऽस्य विषयः। इहामृतत्वादिलक्षणोऽक्ष्यन्तः श्रूयमाणः पुरुषः ईश्वरो-

ऽन्यो वेति संशये परमेश्वरादन्य इति वदामः । परमेश्वरस्य दहरं विपाप्मं पद्मकोषप्रतीकाशमित्यादिषु दहरपुण्डरीकवच्चक्षुषि सन्निधानाश्रवणात् । जीवस्य तु रूपादिग्रहणदशायां चक्षुषि सन्निधानं प्रसिद्धमेवातः स एवाक्षिपुरुषः । अथवा छायापुरुषः, अक्ष्याधारत्वदृश्यत्वयोस्तत्र संभवात् । अथवा आदित्यदेवता स्यात्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशदितिश्रवणात् । सर्वथा न परमात्मा, तस्याधारदृश्यत्वासंभवात् । तस्माच्छायाजीवदेवेषु कोऽप्यस्त्विति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

आनन्दरूपममृताभयमभ्रपूर्णं
कामावहं भुवनभासकमाप्तकामम् ।
अन्तर्विलोचनमनङ्गरिपो भवन्त-
मुद्भावयत्यकृतकोक्तिरुपासनीयम् ॥ १८ ॥

'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति सुखरूपमाकाशवत्परिपूर्णं यद्ब्रह्म पूर्ववाक्येनोक्तं तदेव 'य एषोऽक्षिणि' इति प्रकृतवाचकेनैतच्छब्देन परामृश्य, अक्षिण्युपास्यत्वेनोपदिश्य वामनीत्वभामनीत्वसंयद्वामत्वगुणानुपासनायोपदिशति । वामनीत्वं कामप्रापकत्वं, भामनीत्वं जगद्भासकत्वं, संयद्वामत्वं प्राप्तकामत्वम् । एतैर्गुणैरुपास्यस्य ब्रह्मणः सोपाधिकत्वादक्ष्याधारत्वं शास्त्रदृष्ट्या दृश्यत्वं च न विरुध्यते । छायाजीवामृर्येषु अमृ-

तत्त्वाभयत्वादीनि न संभवन्ति । 'एतदमृतमभयम्' इत्यत्रामृ-
तशब्देन शिव एवोच्यते । जाबालोपनिषदि 'भगवन् किं ज-
प्येनामृतत्वं ब्रूहीति' प्रश्नानन्तरं 'शतरुद्रियेणेत्येतान्येव ह वा
अमृतस्य नामानि' इति शतरुद्रियेणेत्युत्तरम् । तत्र शिवनामा-
नि श्रीरुद्रपदानि शिवस्य नामधेयानीति वक्तव्ये, अमृतस्य ना-
मधेयानीत्युक्त्या, अमृतपदं शिवस्य नामेति निश्चीयते ॥ १८ ॥

[५ अन्तर्याम्यधिकरणम्]

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । (ब्र०सू० १।२।१८)

अन्तर्यामिब्राह्मणेऽस्य विषयः श्रूयते 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्
पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः
पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इति । एवं पृ-
थिवीमारभ्य प्रतिपर्यायमव्यक्तात्मतत्त्वपर्यन्तमखिलवस्त्वन्त-
र्यामितया श्रूयमाणः परमेश्वरः जीवः प्रधानं वेति संदेहे स्वो-
पार्जितविचित्रकर्मफलभोगाय सकलभूतेन्द्रियानुप्रवेशो जीवस्य
युज्यते । अथवा महदादिरूपेण परिणतत्वात्प्रधानस्य सर्वव्या-
पकत्वमुचितम् । ततः परमेश्वरमन्तरेण जीवो वा प्रधानं वा स्या-
दिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

त्वामेव कामविजयिन्नमृतत्वजीव-
तादात्म्यतन्नियमनप्रमुखैः प्रकारैः ।

अन्तर्नियामकमशेषपदार्थपङ्क्ते-
रारण्यकोपनिषदाकलितं प्रतीमः ॥ १९ ॥

'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इति अन्तर्यामिणो जीवतादात्म्यममृतत्वं च श्रूयते । तथा अन्तरिक्षादिषु सर्ववस्तुष्वन्तर्यामित्वोपदेशे सर्वव्यापित्वं प्रतीयते । तेभ्यो हेतुभ्योऽन्तर्यामी परमेश्वरः । प्रधानस्यान्तर्यामित्वं न संभवति, 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता' इति श्रोतृत्वाद्यवगमात् । नापि जीवस्य, काण्वाः माध्यन्दिनाश्च 'यो विज्ञाने तिष्ठन्', 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिना जीवादन्तर्यामिणं भेदेनाधीयते । अतो जीवनियामकत्वादमृतशब्दवाच्यत्वाच्चान्तर्यामी शिव एव । 'त्र्यम्बकं यजामहे । सुरभिं पुष्टिवर्धनं । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्' इति शिवमन्त्रत्वेन प्रसिद्धे तत्रामृतशब्दवाच्यत्वं शिवस्य निश्चितम् । ननु 'मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्' इत्यत्र मृत्योर्मोचनं यथा प्रार्थ्यते तथा अमृतस्य मोक्षस्य मोचनाभावः प्रार्थ्यते इति न तत्रामृतशब्दार्थः शिव इति चेत्, मृत्योः प्रसक्तत्वेन तन्मोचनं प्रार्थ्यते मोक्षस्य नित्यपुरुषार्थत्वेन तन्मोचनमप्रसक्तमिति तदभावो न प्रार्थनीय इति वासिष्ठे मृत्युञ्जयकल्पे वसिष्ठेनैवामृतशब्दः शिवपर इति प्रतिपादितम् । यद्वा अम्बकानि चक्षूँषि त्रीण्यस्येति त्र्यम्बकः

त्रिलोचनं त्रिलोकेशं तं वयं पूजयामहे ।
यो लोके दृश्यते गन्धः शोभनः सर्ववस्तुषु ।

स शर्वस्यैव देवस्य सुगन्धिः कथ्यते ततः ॥
अथवा शोभनैर्गन्धैः पुष्पैश्चापि मनोहरैः ।
धूपदीपादिभिश्चैव पूजनीयो महेश्वरः ॥
सर्वेषामेव देवानां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
उपासकानां सर्वेषां पुष्टिहेतुरुमापतिः ॥
उर्वारुकं यथापक्वं स्वयं मुच्येत बन्धनात् ।
अहमेवं प्रसादेन देवदेवस्य शूलिनः ।
अनायासेन मुच्येयं मृत्योर्लोकलयंकरात् ॥
ततः प्राप्यामृतं देवं तमेव परमेश्वरम् ।
माऽभूवं तद्वियुक्तोऽहमिति मन्त्रार्थयोजना ॥
वेदार्थो यः स्वयं ज्ञातस्तत्राज्ञानं भवेदपि ।
ऋषिभिर्निश्चितेह्यर्थे का शङ्का स्यान्महात्मनाम् ॥

इत्युपबृंहितत्वात्पुरुषबुद्धिकल्पितार्थो न ग्राह्य इति । तस्मादन्तर्यामी शिव इति सिद्धम् ॥ १९ ॥

[६ अदृश्यत्वाद्यधिकरणम्]

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । (ब्र० सू० १।२।२१)

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' इत्यादि मुण्डकोपानिषदि श्रूयतेऽस्य विषयः । अत्राक्षरं प्रधानं जीवः पर-

मेश्वरो वेति संदेहे प्रधानमत्राक्षरं, तस्य महदादिपरिणामिनो भूतयोनित्वसंभवात् । अथवा जीवः, तस्य क्षरं प्रधानममृताक्षरमिति श्रुतेरक्षरशब्दवाच्यत्वमुचितं, स्वकर्मवशेन महाभूतयोनित्वं च । अतस्तयोरन्यतरदक्षरशब्दवाच्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

सार्वज्ञ्यमक्षरपरत्वमशेषवस्तु-
बाह्यान्तरत्वमजनित्वमितीरितैषा ।
न्यायच्छटा त्वयि नियच्छति भूतयोनि-
शब्दं त्रिशूलधर मुण्डकशाखयोक्तम् ॥ २० ॥

'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' इति सामान्याकारेण सर्वज्ञत्वं विशेषाकारेण सर्वविच्वं पर्यालोचनात्मकं तपश्चेत्येतादृशस्य ब्रह्मलिङ्गस्य कीर्तनात् भूतयोनिरक्षरं परमं परमेश्वरः । न चाचेतनासर्वज्ञयोः भूतयोनित्वं युक्तं सामर्थ्याभावात्, 'अक्षरतः परः' इति प्रधानात्परत्वेन भूतयोनेरभिधानाच्च । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इति बाह्याभ्यन्तरव्यापित्वजन्मादिराहित्ययोः श्रुतत्वात् , परिच्छिन्नस्य जन्मादिमतो जीवस्य तदसंभवात् , सर्वज्ञपदस्य 'कृशानुरेताः सर्वज्ञः' इत्यमरकोशादिषु शिवनामत्वेन प्रसिद्धत्वात् , जीवप्रधानयोरेतद्वाक्यप्रतिपाद्यत्वं नास्तीति ॥ २० ॥

[७ वैश्वानराधिकरणम्]

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्।(ब्र० सू० १।२।२४)

'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इत्यादि छान्दोग्येऽस्य विषयः श्रूयते। तत्रोपास्यतयोक्तो वैश्वानरः अन्यो वेति संशये वैश्वानरशब्देन जाठराग्निरुच्यते। 'अयमग्निर्वैश्वानरो—येनेदमन्नं पच्यते—तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति' इति जाठराग्नौ प्रयोगदर्शनात्। महाभूततृतीयोऽग्निर्वा स्यात्, 'एष वा अग्निर्वैश्वानर' इत्यादौ वैश्वानरशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्। देवता वा स्यात्, 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इति पुत्रेष्टिदेवतात्वेन फलदातृत्वश्रवणात्। न परमेश्वरः प्रादेशमात्रमिति परिच्छेदावगमादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

चन्द्रावतंस वियदादिजगत्स्वरूप-
शीर्षप्रधानविविधावयवोपदेशात्।
ब्रह्मश्रुतेरपि परत्वविबोधिकाया
वैश्वानरः स तु भवानिति वर्णयामः ॥ २१ ॥

परमेश्वर एव वैश्वानरः। कथं—'को न आत्मा किं ब्रह्म', 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो

ब्रूहि' इत्यादिषु परमेश्वरासाधारणब्रह्मशब्दादिभिर्विशेष्यमाणत्वात्, जाठराग्न्यादेस्तदसम्भवात् । किञ्च 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' इत्यत्र प्रतिपाद्यमानं प्रपञ्चशरीरित्वं ब्रह्मणोऽन्यत्र न सम्भवति । वैश्वानरशब्दस्तु योगवृत्त्या ब्रह्मणि वर्तते—विश्वश्चासौ नरश्च विश्वानर एव वैश्वानरः, तं परमेश्वरमस्मिन्नुपासकशरीरे प्राणाहुतिवेलायां भोक्तृतया 'शिवो मा विशाप्रदाहाय ईशः सर्वस्य जगतः प्रीणातु विश्वभुक्'इत्यामनन्ति तैत्तिरीयाः । हे शिव उ निपातः सम्बोधनार्थः मा मामित्यर्थः । हे शिव माम् अप्रदाहाय विशेत्यर्थः । छान्दसः सन्धिः । 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य' इति श्रुताविव ईशः सर्वस्य जगत इति वाक्यप्रतिपाद्यः शिवः विश्वभुक् सर्वसंहर्त्ता प्राणाहुत्या प्रीणात्विति द्वितीयवाक्यार्थः । तस्माज्जाठराग्निर्महाभूततृतीयाग्निरिष्टिदेवताविशेषो वा वैश्वानरविद्याविषयो न भवति किन्तु शिव एवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परशुराममिश्रात्मजमित्रमिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्टसूनुधर्मय्यदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

[१ द्युभ्वाद्यधिकरणम्]

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । (ब्र०सू० १।३।१)

'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति मुण्डकोपनिषदि श्रूयमाणं वाक्यं विषयः। द्युभ्वाद्यायतनं श्रूयमाणं परमेश्वरोऽन्यो वेति संशये सूत्रात्मा स्यात्। 'वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति वायोः सूत्रात्मनो द्युभ्वाद्याधारत्वावगमात्। अथवा प्रधानं वा स्यात्, तस्य सांख्यमते सर्वोपादानत्वेन सर्वाधारत्वावगमात्। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इत्यात्मशब्द-श्रवणात् जीवो वा स्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

सर्वज्ञतादिगुणसंकथनात्त्वयैव
योगादुपक्रमविधेरुपसंहृतेश्च ।
आत्मेत्यधीतमलिकेक्षण मुक्तगम्यं
त्वामेव धाम कलये द्युमहीमुखानाम् ॥ २२ ॥

न तावत्सूत्रात्मजीवप्रधानानि मुण्डकोपनिषत्प्रतिपाद्यानि भवन्ति, 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति द्युभ्वाद्यायतनस्य मुक्तप्राप्यत्वश्रवणात्, जीव-

प्रधानवायूनां तदभावात् । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्रान्तं 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्युपसंहृतं, तथा च मुण्डकोपनिषदः कार्त्स्न्येन ब्रह्मपरत्वात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि सर्वज्ञश्रुत्या द्युभ्वा-द्यायतनं शिव एव, 'कर्तारमीशम्' इतिशब्दश्रवणादपि शिव एव द्युभ्वाद्यायतनमिति । श्लोकार्थस्तु—उपक्रम एव विधिः प्रेरकः कृत्स्नं वाक्यं वायुप्रधानजीवान्व्यवच्छिद्य ब्रह्मणि वाक्यं नियु-ङ्क्ते' इति उपक्रमे विधिशब्दः प्रयुक्तः, सर्वज्ञत्वादिगुणकथनात् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां 'तमेवैकं जानथ आत्मानाम्'इत्यात्मत्वेनाधीतं 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'इति मुक्तप्राप्यं द्युमहीप्रभृतीनामायतनं त्वामेव जानीम इति ॥ २२ ॥

[२ भूमाधिकरणम्]

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् । (ब्र०सू० १।३।८)

छान्दोग्येऽस्य विषयः श्रूयते, 'नान्यत्पश्यति नान्यच्छृ-णोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति । तत्र संदेहः भूमशब्द-वाच्यः प्राणो वा परमेश्वरो वेति । तत्र भूमशब्दार्थः प्राण एव । नारदं प्रति सनत्कुमारो नामादीन्युत्तरोत्तरमुत्कृष्टानि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्यान्ते निरतिशयं भूमानं प्रश्नप्रतिवचनं विनैवोपदि-देश । तथाहि पूर्वेषु नामादितत्त्वेषु 'अस्ति भगवो भूयः' इति नारदः पदे पदे पृच्छति, सनत्कुमारस्त्वस्तीति प्रतिवदति ।

एवं च प्रश्नप्रतिवचनपूर्वकतया नामादीनि प्राणान्तानि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्य प्राणस्योपरि विनैव प्रश्नप्रतिवचने भूमानमुपदिदेश । अतः प्राणभूम्नोर्मध्ये विच्छेदकाभावात्प्राण एव भूमा । किञ्च प्राणतत्त्वमुपादिश्य प्राणोपासकस्यातिवादित्वरूपमुत्कर्षमुक्त्वा प्रकरणविच्छेदशङ्कानिवृत्तये तदेवातिवादमनुवर्त्य भूमानमुपदिशन्प्राणभूम्नोरभेदं दर्शयति । तस्मात्प्राणो भूमेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

तत्त्वानि पूर्वमभिधानपुरःसराणि
प्राणावधीनि कतिचित्प्रतिपाद्य शम्भो ।
विच्छिद्य तत्प्रकरणं च तुना विभो त्वा-
माख्याति भूमवचसा श्रुतिरद्वितीयम् ॥ २३ ॥

भूमा परमेश्वर एव । कुतः । 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्यत्रातिवादित्वहेतुं प्राणोपासनं तु शब्देन व्यावर्त्तयन्मुख्यातिवादित्वहेतोर्ब्रह्मणः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात् । तथा परमात्मोपक्रमे वेद्यतया 'तरति शोकमात्मवित्' इति परमात्मोच्यते । तथा च 'यत्र नान्यत्पश्यति' इति द्वैतनिषेधेन भूम्नो लक्षणमभिधीयते । तस्मादद्वैतः परमात्मा भूमशब्दार्थ इति ॥ २३ ॥

[३ अक्षराधिकरणम्]

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । (ब्र०सू० १।३।१०)

'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व-मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्' इत्यादि बृहदारण्यकवाक्यं वि-षयः । अत्राक्षरशब्दार्थः प्रणवः परमेश्वरो वेति संशये प्रणव इति प्राप्तम्, अक्षरशब्दस्य वर्णपर्यायत्वात् । प्रणव एवाक्षरश-ब्दार्थ इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तयति—

अव्याकृतास्पदममानविगाहनीय-
मात्मीयशासनधृताखिलविश्वतन्त्रम् ।
अस्थूलतादिभिरनुज्झितमक्षरं त्वां
गार्ग्याः स्वयं कथयतिस्म स याज्ञवल्क्यः ॥२४॥

अत्राक्षरशब्दवाच्यं परं ब्रह्मैव । कुतः, 'यदूर्ध्वं गार्गि दि-वो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति' सर्वविकाराधारतया निर्दिष्ट आकाशः कस्मिन्नोतश्च प्रोतश्चेति गार्ग्या पृष्टे 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति' इत्या-दिना 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्य-न्तेन याज्ञवल्क्यवचनेन निर्दिष्टस्याक्षरस्याकाशान्तप्रपञ्चधृ-

तिरवगम्यते । कथमेतदन्यत्र परमेश्वरात्सम्भवति । ततः परमेश्वर एवाक्षरपदार्थ इति । किञ्चास्थूलमनण्वह्रस्व-मित्यक्षरे सर्वसंसारधर्मा निषिध्यन्ते, तथा 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः', इत्यक्षरस्य जगच्छासितृत्वमुच्यते । शासनं शिवस्यैव, 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमाँल्लोकानीशत ईशिनीभिः' इत्यथर्वशिरोवचनादवगम्यते । किञ्च 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतम्', इत्यादिना द्रष्टृत्वादिप्रमाणाविषयं चाम्नातम् । तच्चैतत्सर्वं ब्रह्मण्येव सम्भवति । तदेवाक्षरम् । श्लोकार्थस्तु—अपञ्चीकृताकाशाधारं पूर्वोक्तरीत्या मानाविषयं स्वकीयशासनविधृतप्रपञ्चं स्थूलत्वादिधर्मरहितमक्षरं त्वां याज्ञवल्क्यः गार्ग्यां अकथयदिति ॥ २४ ॥

[४ ईक्षतिकर्माधिकरणम्]

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः । (ब्र॰सू॰ १।३।१३)

'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते', इति प्रश्नोपनिषदि श्रूयते विषयः । तत्र ध्यानकर्मत्वेन श्रूयमाणः परमेश्वरोऽन्योवेति संशयः । नासौ परमेश्वरः, हि-

रण्यगर्भ एव 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति' तल्लोकप्राप्ति-श्रवणादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

आम्रेडितेन पुरुषं परमित्यनेन
प्रत्यायिते पदयुगेन विधेः परस्मिन् ।
त्र्यन्तवागभिहितं प्रणवाक्षरेण
ध्येयत्वमीश घटते भवतीक्षितव्ये ॥ २५ ॥

परमेश्वर एव ध्येयः, ईक्षतिकर्मत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, 'जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति व्यष्टिजीवापेक्षया परात् जीवघनात् परमीश्वरमीक्षत इति शिवविषयमीक्षणं श्रूयते । ध्यानेक्षणयोः समानविषयत्वात् 'परं पुरुषमभिध्यायीत' इति ध्यानकर्मापि परमेश्वर एव । उत्तरत्र 'तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयमिति' शिवासाधारणामृतशब्दात् शिव एवोपास्य इति । ब्रह्मलोको हि तत्र गुणशिवलोकपरः परं पुरुषमीक्षत इति ॥ २५ ॥

[५ दहराधिकरणम्]

दहर उत्तरेभ्यः । (ब्र० सू० १।३।१४)

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासि-

स्थ्यम्' इति छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः। ब्रह्मण उपलब्धिस्थानं शरीरं ब्रह्मपुरं तत्राल्पं हृदयपुण्डरीकं वेश्म तस्मिन्वेश्मनि दहराकाशो वर्त्तत इत्यर्थः। ननु 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तः' इत्यत्र तस्मिन्निति तत्पदेन अव्यवहितदहराकाशपरामर्शः किं न स्यात्? अव्यवहितपरामर्शे 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इतिवत् 'अस्मिन् ब्रह्मपुरे' इतिवच्चास्मिन्निति पदं प्रयुज्येत। अतस्तस्मिन्निति तच्छब्दो व्यवहितपरामर्शीति ज्ञायते। अत्र दहराकाशः परमेश्वरो वाऽऽन्यो वेति संशये भूताकाश इति प्राप्तम्, आकाशस्य तत्र रूढत्वात्। अथवा दहरशब्देनाल्पत्वोक्तेः परिच्छिन्नो जीवो भविष्यतीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

आधारमस्य जगतोऽपहताघसंघ-
मात्मानमभ्रवदुदभ्रमशेषसेतुम्।
ब्राह्मे पुरे हृदयपङ्कजवेश्मभाज-
माकाशमीश दहरं त्वदभिन्नमाहुः॥ २६॥

ब्रह्मैवात्राकाशशब्दवाच्यम्, 'उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादिना द्यावापृथिव्याद्यशेषजगदाधारत्वं दहराकाशस्य श्रूयते। तथा 'एष आत्मापहतपाप्मा' इत्यात्मत्वमपहतपाप्मत्वं च, 'य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इति जगन्मर्यादानामसाङ्कर्याय विधारकत्वलक्षणं सेतुत्वं च जगद्धृतिश्च

शिवस्य महिमा 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः' इति श्रुतेः । 'हृत्पुण्डरीकं विरजम्' इत्यारभ्य 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्', इत्यादि कैवल्योपनिषदि च दहरपुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाश उपास्य उमासहितः शिव एवेत्युक्तम् ॥ २६ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु । (ब्र०सू०१।३।१९)

दहरविद्योपरि प्रजापतिविद्यायामिन्द्रविरोचनप्रजापतिसंवादे श्रूयतेऽस्य विषयः–'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच' इति । तत्र जीवात्मेति प्राप्तमवस्थात्रयोपन्यासात्, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते'इति, 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति, 'सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति' इति वाक्यत्रयेण एवमवस्थात्रयोपन्यासे सति अवस्थावान जीवो ग्रहीतुमुचितम्(?), ईश्वरस्यावस्थाराहित्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

व्यावृण्वतोरजनिमत्सुलभान्विशेषा-
नाद्यन्तयोरतनुशासितरैकरूप्यात् ।
सोऽसि त्वमक्षिपुरुषः सुरनायकादि-
संवादमध्यगतसूक्तिसमर्पणीयः ॥ २७ ॥

ईश्वर एवाक्षिपुरुषः। कुतः, 'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' इति परमात्मानमुपक्रम्य 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यनेन परमात्मन एवोपसंहारात्। न चैवं सति जागरणाद्युपन्यासानुपपत्तिः, शाखाग्रचन्द्रन्यायेन परमात्मबोधोपक्षीणत्वात्। अवस्थात्रयोपन्यासान्ते पर्यायत्रयेऽपि 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति अक्षिपुरुषस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनात्, अमृतमिति पदस्य शिववाचकत्वस्य प्राक्स्थापितत्वात् इदं शिवपरमेव॥ २७॥

[६ अनुकृत्यधिकरणम्]

अनुकृतेस्तस्य च। (ब्र०सू०१।३।२२)

मुण्डकोपनिषदि श्रूयतेऽस्य विषयः-'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। अस्यायमर्थः-तत्र 'ज्योतिषां ज्योतिः' इति पूर्वप्रकृते ज्योतिषि सूर्यचन्द्रादयो न भान्ति, किन्तु तमेव ज्योतिषां भासकं पुरतो भासमानं पदार्थमनु पश्चात् सर्वं जगद्भाति। भासनदशायां चन्द्रादिकं स्वतन्त्रेण(?) न भासते। किं तर्हि? तस्य भासकस्य तेजसा सर्वं विभातीति। अत्र वाक्ये श्रूयमाणं सूर्यादिसदृशं जगद्भासकं चाक्षुषं तेजोऽन्तरमुतेदं चैतन्यमिति संशये तेजोऽन्तरमिति वदामः। कस्मात्। सूर्यादितेजोऽभिभावकत्वात्। महतस्तेजसः सन्निधौ स्वल्पं तेजोऽभिभूयते, यथा सूर्यसन्निधौ दी-

पः । तथा च सूर्यादीनामभिभावकमन्यत् तत्सूर्यादिभ्योऽधिकं तेजोऽन्तरमेवेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

अर्कादिदीप्त्यविषयस्य महोऽन्तरस्य
तेजस्तदन्यसकलार्थविभासकस्य ।
प्राग्भासुरस्य जगतः परमप्रसिद्धे-
श्चैतन्यमेव तव तादृशमित्यवैमि ॥ २८ ॥

सूर्यादिभिरभास्यमानतया श्रूयमाणं वस्तु चैतन्यमेव । सूर्याद्यभिभावकस्य महतस्तेजोऽन्तरस्याप्रसिद्धत्वात् । किञ्च 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति सर्वस्माज्जगतः प्राग्भासमानत्वं चैतन्यस्यैवेति ॥ २८ ॥

[७ प्रमिताधिकरणम्]

शब्दादेव प्रमितः (ब्र०सू० १।३।२४) ।

कठवल्ल्यामस्य विषयः श्रूयते—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते' इत्यादि । इहाङ्गुष्ठमात्रतया श्रूयमाणः पुरुषो जीवः परमेश्वरो वेति संशये जीव इति वक्तुमुचितम् । 'स विश्वरूपस्त्रिगुणास्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः । अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः' इति तस्याङ्गुष्ठमात्रत्वप्रसिद्धेः, 'मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति देहान्तर्वर्त्तित्वावगमाच्चेति

प्राप्ते राद्धान्तयति—

अल्पीयसो हृदयवारिरुहादुपाधे-
रङ्गुष्ठसम्मितमतीतपुरस्सरेशम् ।
एवं विधं पुरुषमिन्दुशिखामणे त्वां
जानीमहे जनिमतः परमीशितव्यात् ॥ २९ ॥

परमेश्वर एवाङ्गुष्ठमात्र इति ब्रूमः । 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति परमेश्वरलिङ्गशब्दात् । 'सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्य' इति तस्यैव सर्वेश्वरत्वश्रवणात् व्यापकस्यापि परमेश्वरस्योपासकहृदयापेक्षयाङ्गुष्ठमात्रत्वमिति ॥ २९ ॥

[८ देवताधिकरणम्]

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् । (ब्र०सू० १।३।२६)

परमेश्वरोपासने देवानामधिकारोऽस्ति न वेति संशये, नास्ति तेषामधिकारः । अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तश्च वैदिके कर्मण्यधिकारीत्यर्थित्वमेव तावन्नास्ति, तेषां परमेश्वरस्य च लोकभेदाभावात् । 'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन् ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति' श्रुत्या स्वर्ग एव लोको रुद्रस्य सगुणब्रह्मणः पदमवगम्यते । स एव देवानामपि पदम् । एकपदत्वात् तत्पदार्थित्वमपि नास्ति । सामर्थ्यमपि नास्ति, शरीराभावात् । शरीरिणो हि कस्यचित् स्तुतिध्याना-

दिषु समर्थाः । 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादीनां प्रामाण्यात्तेषां विग्रहवत्त्वमिति चेन्न, विध्येकवाक्यतापन्नानामन्यत्र तात्पर्याभावात् । वैदुष्यमपि तेषां नास्ति उपनयनसंस्कारपूर्वकस्य वेदाध्ययनस्याभावेन वेदान्तविचाराभावेन ब्रह्मबोधानुपपत्तेः । तत एव तेषां शास्त्रपर्युदासश्च । तस्माद्देवानां नास्ति ब्रह्मोपासनेऽधिकार इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

मन्त्रादिसिद्धतनवो मरुतस्तपोभि-
स्स्फीतैर्विनापि नियमं प्रतिभातवेदाः ।
ऐश्वर्य्यसातिशयिता सुघटार्थिभावा
विद्यासु ते मदनजेतरधिक्रियन्ते ॥ ३० ॥

ब्रह्मोपासने देवानामप्यधिकारोऽस्ति । कुतः, तेषामर्थित्वसंभवात् । नच परमेश्वरस्य देवानां च पदं समानं, यतः सामान्येन सुखवाचकोऽपि स्वः शब्दः प्रकरणादिना विशेषमभिधत्ते । यथेश्वरशब्दः स्वामिमात्रवाचकः प्रकरणवशात् 'उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये' इत्यादिषु जनपदाधिपत्यमात्रवाची राजविषयः, ब्रह्मणः प्रकरणे पुनरयं निरातिशयैश्वर्यवाची तद्विषयो भवति, तथा सुखमात्रवाचकः स्वर्गशब्दः प्रकरणेन प्रमाणान्तरोपपत्त्या च देवानां पदमतिस्वल्पकालवर्त्ति स्वल्पसुखरूपमभिधत्ते, सगुणब्रह्मणः शिवस्य पदं तु तदपेक्षयाधिककालस्थायि महासुखमभिधत्ते । अतः स्वल्पसुखप-

देवार्चिनामधिकसुखरूपब्रह्मपदं प्रत्यर्थित्वमस्त्येव । सामर्थ्यं चास्ति, 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्याद्यर्थवादानां स्वर्गार्थवादवत् भूतार्थवादत्वेन स्वार्थे प्रामाण्यसम्भवात्, 'आदित्यो यूपः', 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यर्थवादयोरिव मानान्तरविरोधमानान्तरप्राप्त्योरभावात् । शक्त्यतिशयेन स्वयंप्रभातवेदार्थत्वात् पूर्वाधीतवेदार्थविस्मरणाभावाच्च तेषां वैदुष्यं च सम्भवति । शास्त्रस्य साधारण्येनोपासनाविधायकत्वात् अधिकारस्य दुर्निवारत्वेन दूरतस्तत्पर्युदासः । तस्माद्ब्रह्मविद्यायामधिकारिणो देवाः । अत एव देवानां परमेश्वरविषयमुपासनं श्रूयते अथर्वशिरसि—'ते देवा रुद्रं ध्यायन्तीति' ॥ ३० ॥

[९ अपशूद्राधिकरणम्]

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।
(ब्र०सू० १।३।३४)

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः—'आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा' इति । अत्राचार्यः शिष्यं प्रति शूद्रेत्यामन्त्रयते । अतः शूद्राणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संदेहे तेषामधिकारोऽस्ति, अर्थित्वादिसम्भवात् । न च त्रैवर्णिकानामेवेति नियमः । अत्रैवर्णिकानामपि देवानां तददर्शनात् । न च देवानामुपनयनाध्ययनादेरभावेऽपि स्वयं प्रभातवेदार्थतया युज्यते वैदुष्यं कथं शूद्राणामिति शङ्क्यं, तेषामपि

पुराणश्रवणादिना बोधोपपत्तेः । निषादस्थपतिन्यायेन महावाक्यश्रवणेऽधिकारसम्भवाच्च । तस्माच्छूद्राणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

जानश्रुतिं त्रिपुरशासन तावकीन-
विद्यापरिश्रमविनाकृतिजातशोकम् ।
क्षत्रप्रचोदनपुरस्सरभूतिमत्त्वा-
द्राजानमभ्यधित शूद्रपदेन रैक्वः ॥ ३१ ॥

नास्ति शूद्राणामधिकारः । तेषामध्ययनाभावेनोपासनोपायभूतोपास्यतद्गुणादिज्ञानासम्भवात् । इतिहासपुराणानि वेदोपबृंहणं कुर्वन्ति सन्त्येवोपायभावमनुभवन्ति न स्वातन्त्र्येण । शूद्राणामितिहासपुराणश्रवणानुज्ञाने तु तस्य पापक्षयः फलम् । विदुरधर्मव्यासादीनां जन्मान्तरसिद्धज्ञानाप्रमोषात् ब्रह्मनिष्ठता । कथं ब्रह्मविद्योपदेशे शूद्रेत्यामन्त्रणमिति चेन्न, तत्र जातियोगेन न शूद्रेत्यामन्त्रणम् । किन्तु ब्रह्मज्ञानाप्राप्त्या शुगस्य संजातेति 'सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' इति हंसानादरश्रवणात् ज्ञायते । शुचा द्रवतीति शूद्रः इत्यर्थः । उपाख्यानोपक्रमे 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति' इति जानश्रुतेर्दानपतित्वबहुतरपक्वान्नदायित्वं चोक्त्वा मध्ये च 'संजिहान एव क्षत्तारमुवाच' इति क्षत्रं प्रेषणं चावगम्यते । एतैर्लिङ्गैर्जानश्रुतेः

क्षत्रियत्वमवगम्यते । तस्मान्न शूद्रस्याधिकार इति ॥ ३१ ॥

[१० कम्पनाधिकरणम्]

कम्पनात् (ब्र०सू०१।३।३९)

कठवल्ल्यां श्रूयतेऽस्य विषयः-‘यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति’ इति । अस्यायमर्थः-निःसृतमुत्पन्नं यदिदं जगत्सर्वं प्राणे निमित्तभूते सति कम्पते तच्च प्राणशब्दवाच्यं वस्तु उद्यतं वज्रमिव महाभयहेतुः । एतत्प्राणशब्दवाच्यं ये विदुः ते मरणरहिता भवन्तीति । अत्र जगत्कम्पनहेतुः प्राणपदार्थः परमेश्वरोऽन्यो वेति संशये अशनिरिति तावत्प्राप्तम् । कुतः, महद्भयमिति भयहेतुत्वश्रवणात् । वायुर्वा भविष्यति,‘प्राण एजति’ इति प्राणशब्दवाच्यस्य देहादिचालनकर्तृत्वादेरवगमादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

संचालकस्त्रिजगतोऽखिलशक्तियोगा-
दन्तर्नियामकतया भयहेतुरस्य ।
आत्मीयवेदनवताममृतत्वदायी
प्राणश्रुतेस्त्वमसि भाजनमन्तकारे ॥ ३२ ॥

ईश्वरः प्राणशब्दवाच्यः । ‘य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्तीति’ तद्वेदनस्यामृतफलकत्वोक्तेः । भयहेतुतादि अन्तर्यामितया ईश्वरस्य भविष्यति । ‘भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।

भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति श्रुत्यन्तरादेहादिचालकत्वं च सर्वशक्तित्वादीश्वरस्योपपद्यते । 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' इति श्रुतेः शिवज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वप्रतिपादनात् प्राणशब्दवाच्यः शिव एवेति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

[११ ज्योतिरधिकरणम्]

ज्योतिर्दर्शनात् । (ब्र०सू० १।३।४०)

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तम पुरुषः' इति । सम्यक् प्रसीदत्यस्यां सुषुप्त्यवस्थायामिति सम्प्रसादो जीवः, शेषः सुगमः । ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म वा आदित्यमण्डलं वेति संशये रविमण्डलमेव । कस्मात् । 'शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्यते' इति देहान्निर्गत्य पश्चाज्ज्योतिः प्राप्नोतीत्युच्यमानत्वात्, ब्रह्मप्राप्तौ निर्गमाभावात्, प्राप्तप्राप्तव्यभेदानुपपत्तेश्चेति प्राप्ते राद्धान्तः—

देहद्वयादतिविविक्ततयैव जानन्
प्रत्यक्पदार्थममुना पुनरन्वितैक्यम् ।
ज्योतिःपरं पशुपते पुरुषोत्तमं त्वां
पश्यन्निजां प्रकृतिमृच्छति संप्रसादः ॥३३॥

ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्मैव। कस्मात्। 'उत्तमः पुरुषः' इत्यु-त्तमपुरुषसंकीर्त्तनात्, रविमण्डलस्य तदयोगात्। यदुक्तं 'शरी-रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्यते' इत्येतद्द्वयं ब्रह्मपक्षे न स-म्भवतीति तदसत्। न ह्यत्र समुत्थानं निर्गमनम्। किं तर्हि? त्वं पदार्थस्य ब्रह्मत्वेन बोधनम्। अग्रे 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति वाक्यं त्रिरुक्तमिति तत्रामृतपदाभ्यासात् इदं वाक्यस्थज्योतिःपदं शिवपरमेवेति। अन्ये तु—जीवः अस्माच्छरीरद्वयात्समुत्थाय अ-र्चिरादिमार्गेण सगुणब्रह्मलोकं गत्वा 'परं ज्योतिः' सगुणं ब्रह्म तदुपसम्पद्य तत्समीपे स्थित्वा तत्क्रतुन्यायेन तत्समानगुणभोगो भुत्वा 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृ-तात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति प्रमाणानुसारेण पश्चात्स्वे-न रूपेणाभिनिष्पद्यत इति सर्वोपाधिविनिर्मुक्तस्वरूपमात्रतया-वस्थानं श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति वदन्तीति ॥ ३२ ॥

[१२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम्]

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्।

(ब्र०सू० १।३।४१)

प्रजापतिविद्यान्ते श्रूयतेऽस्य विषयः। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति। अत्राकाशपदार्थः जगद्रूपयोर्नामरूपयोर्निर्वाहकः। ते च नामरूपे यस्मादाकाशात् भिन्ने अथवा यस्याकाशस्यान्तरेव ते वर्त्तेते

तदाकाशं मरणरहितं ब्रह्म तच्च प्रत्यगात्मेति । तत्राकाशपदवा-च्यं ब्रह्म वा भूताकाशो वेति सन्देहे भूताकाश एव, नामरूप-योर्निर्वहितेत्युक्तस्य निर्वाहकत्वस्यावकाशप्रदातरि नियति सम्भ-वादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

एकैव हेमगिरिकार्मुक नामरूप-
निर्वोढृता निखिललोकनियन्तृभूते ।
आकाशनाम विनिवेशयितुं त्वयीष्टे
ब्रह्मामृतात्मपदसाह्यवती तु सा किम् ॥ ३४ ॥

अत्र निर्वाहकत्वं नाम नावकाशप्रदानमात्रं, किन्तु नियामकत्वं, सर्वप्रकारनिर्वाहकस्य नियन्तृत्वात् । नह्यचेतनं सर्वान् प्रकारान् ज्ञात्वा नियन्तुं शक्नोति । अन्तर्यामिब्राह्मणे चेतनस्यैव नियन्तृत्वकथनात् वाक्यशेषे 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति श्रूयमाणानां ब्रह्मामृतात्मपदानामाकाशे असम्भवात् ब्रह्मैवाकाशशब्द-वाच्यं, तदमृतमित्युक्त्या शिवपरमिति स्पष्टमेव ॥ ३४ ॥

[१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्]

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन । (ब्र०सू० १।३।४२)

बृहदारण्यके श्रूयते, 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति' इति । अस्यार्थः—विज्ञानमयो लिङ्गशरीरमयः, तेन स्थूलदेहव्यतिरि-

क्तः सिद्धः प्राणेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु प्राणादिवायुषु च हृदि अन्तःकरणे सप्तम्या आधारत्वनिर्देशात् आधेयस्य पुरुषस्य इन्द्रियवायुमनोऽव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । अन्तःशब्देन धीवृत्तिभ्यः कामसङ्कल्पादिभ्यो व्यतिरिक्तः, बुद्धिपरिणामरूपाणां तासां वृत्तीनां बहिर्भूतत्वात् । एवं च स्थूलदेहादीन्द्रियेभ्यः प्राणवायुभ्यः अन्तःकरणात्तद्वृत्तिभ्यः कामसङ्कल्पादिभ्यो व्यतिरिक्तस्तेषां साक्षित्वेन चिज्ज्योतिःस्वरूपः पुरुष इत्युक्तं भवति । स च पुरुषो लिङ्गशरीरतादात्म्याध्यासेन लिङ्गशरीरेण समानः सन्निहलोकपरलोकावनुसञ्चरतीति । तत्र विज्ञानमयो जीवो भवितुमर्हति, ज्योतिर्ब्राह्मणशारीरब्राह्मणयोरादिमध्यावसानेषु संसारस्यैव प्रपंच्यमानत्वात् । आदौ तावदुभौ लोकावनुसञ्चरतीति संसारोक्तिः । संप्रसादस्वप्नान्तजागरप्रतिपादकैरग्रिमभागैरवस्थात्रयं प्रपञ्च्यते । अन्तेऽपि 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः' इत्यादिना सोपाधिकस्वरूपवर्णनेन संसार एवोच्यते । तस्माज्जीव इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—

आदौ विविक्तुमसुगन्धवहाद्युपाधे-
र्जाग्रन्मुखैरकृतसङ्गतयान्तरेऽपि ।
श्रीकण्ठ दर्शयितुमुक्तमनूद्य जीव-
मस्य त्वदैक्यमवधौ निगमोऽभिधत्ते ॥ ३५ ॥

जीवः प्रतिपाद्यो न भवति । कस्मात् । लौकिकादहम्प्रत्यया-

देव तस्य सिद्धेः । किमर्थं तर्हि जीवाद्यभिधानमिति चेत्, प्राणाद्युपाधिभ्यो विवेक्तुमादावभिधानं मध्येऽप्यवस्थात्रयसङ्गराहित्यं दर्शयितुमभिधीयते । अन्ते तूक्तजीवस्वरूपमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते । तस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वात् । तस्माद्ब्रह्मात्र प्रतिपाद्यम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमत्परशुरामामिश्रात्मजमित्रमिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्टसूनुधर्मय्यदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

[१ आनुमानिकाधिकरणम्]

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च । (ब्र॰सू॰१।४।१)

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सापरा गतिः' ॥ अत्राव्यक्तशब्देन सांख्याभिमतं प्रधानमभिधीयते । कस्मात् । प्रत्यभिज्ञानात् । महदव्यक्तपुरुषाः सांख्यशास्त्रे परापरभावेन यथा प्रसिद्धाः तथैव श्रूयन्ते । प्रत्यभिज्ञानाच्चाव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधा-

नमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

अव्यक्तमत्र शशिशेखर पूर्ववाक्ये
विन्यस्तरूपकशरीरपरं वदामः ।
पूर्वोक्तयावदभिधेयविमर्शनेन
सांख्यप्रधानवचसोऽत्र कथं प्रसङ्गः ॥ ३६ ॥

अव्यक्तशब्दवाच्यं वपुरेव पूर्ववाक्योक्तशरीरस्य प्रत्यभिज्ञानात् । तथाहि पूर्वस्मिन्वाक्ये शरीरादीनि रथादित्वेनोक्तानि--'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्' इति तानि पूर्वोक्तानि वस्तून्यस्मिन्वाक्ये प्रत्यभिज्ञायन्ते। स्मार्तप्रत्यभिज्ञानादपि श्रौतं प्रत्यभिज्ञानं प्रबलं प्रत्यासन्नत्वात् । नन्वेवमपि बहूनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् शरीरमेवाव्यक्तशब्दवाच्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत् , परिशेषात् । तथाहि पूर्वस्मिन्वाक्ये इन्द्रियार्थमनोबुद्धिशब्दनिर्दिष्टाः पदार्थाः उत्तरस्मिन्वाक्ये तैरेव शब्दैर्निर्दिश्यन्ते । पूर्वत्रात्मशब्दनिर्दिष्टं वस्तु उत्तरत्र पुरुषशब्देनैव निर्दिष्टम् , पूर्ववाक्ये बुद्धिशब्देन यन्निर्दिष्टं तदुत्तरवाक्ये महच्छब्देन सङ्गृहीतम् । बुद्धिर्हि द्विविधा—अस्मदादीनां बुद्धिरेका तत्कारणभूता हिरण्यगर्भबुद्धिरपरा महच्छब्दवाच्या । तयोः पूर्वत्रैकत्वेनोक्तयोः उत्तरत्र भेदेन निर्देशः । एवं च पूर्ववाक्ये शरीरमेकं परिशिष्टमुत्तरवाक्ये चाव्यक्तमिति । न

चैवं परिशेषेऽपि शरीरस्य स्पष्टत्वादव्यक्तशब्दवाच्यत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, कारणावस्थापन्नस्य शरीरस्य सूक्ष्मत्वेनाव्यक्तशब्दार्हत्वात् अव्यक्तशब्दवाच्यं शरीरमेव ॥ ३६ ॥

[२ चमसाधिकरणम्]

चमसवदविशेषात् । (ब्र०सू० १।४।८)

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयतेऽस्य विषयः। सर्वप्रजाकारणत्वेन श्रूयमाणा अजा सांख्यसिद्धप्रधानमीश्वरपरतन्त्रा प्रकृतिर्वेति विशये प्रधानमिति वदामः, अजामिति जन्माभाववचनात्, सर्वप्रजाजनकत्वाच्च, लोहितशुक्लकृष्णामिति वर्णोपलक्षितगुणत्रयावगमाच्चेति प्राप्ते सिद्धान्तयति--

सूतां त्वया गिरिश लोहितशुक्लकृष्णां
तेजोजलाशनमयीं जननीं प्रजानाम् ।
एकामजामुपनिषत्प्रथितस्वरूपा
सांख्याः प्रधानमिति संकथयन्ति मूढाः ॥३७॥

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति छान्दोग्ये तेजोऽबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि श्रुतान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्र श्रौतप्रत्य-

भिज्ञायाः प्राबल्यात् लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसम्भवाच्च तेजोऽबन्नात्मिकाप्रकृतिरजेति गम्यते। तर्ह्यजेति कथमुच्यते ? छागे रूढस्याजाशब्दस्य बहुप्रजाजनकत्वसाम्येनाग्निर्माणवक इतिवद्गौणोऽयं प्रयोगः, प्रकृतेस्तेजोऽबन्नात्मिकायाः ब्रह्मणो जातत्वात् ॥ ३७ ॥

[३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम्]

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावाद-
तिरेकाच्च। (ब्र.सू० १।४।११)

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' इति बृहदारण्यके षष्ठाध्याये(?) श्रूयतेऽस्य विषयः। तमेवाश्रयमात्मानममृतं ब्रह्म मन्ये इत्थं विद्वानहममृतो भवामीति मन्त्रार्थः। अत्र 'पञ्च पञ्चजनाः' इति श्रौताः पदार्थाः किं वा सांख्यशास्त्रप्रसिद्धानि तत्त्वानि वेति संशये सांख्यतत्त्वान्येव। कस्मात् ? पञ्चविंशतिसंख्यायाः सांख्यशास्त्रप्रसिद्धाया अत्रावभासनात्। तथाहि पञ्चपञ्चेति शब्दद्वयं श्रूयते। तत्रैकपञ्चशब्देन तत्र गता पञ्चसंख्या विवक्षिता, द्वितीयेन पञ्चसंख्याविषया परा पञ्चसंख्या विवक्षिता। तथा च पञ्चसंख्याविशिष्टानि तत्त्वपञ्चकानीत्युक्तं भवति। ततः पञ्चभिः पञ्चकैः पञ्चविंशत्यवभासनात् सांख्यतत्त्वान्येवेति प्राप्ते

सिद्धान्तः—

आख्याति पञ्चजनवाक्यमगेशय त्वां
प्राणेक्षणश्रवणभक्तमनःप्रतिष्ठाम् ।
प्राणादिवाचकपदैर्भगवन् द्वितीयै-
स्तत्साक्षितां तव गृणाति यदीयशेषः ॥३८॥

पञ्चसंख्याविषया परा पञ्चसंख्या श्रूयतां, तथापि पञ्चविंशतितत्त्वमात्रं श्रूयते, पञ्चविंशतितत्त्वानां तदाश्रयस्यात्मनोऽपि प्रतीतेः । न चात्मा (पञ्च?) विंशत्यन्तःपातीति वाच्यम् । तथा सति एकस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं चापतेत् । 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशश्चाधिकः श्रूयते । पूर्वोक्तैः समुच्चयार्थशब्दश्च । अत आत्माकाशाभ्यां सप्तविंशतिसंपत्तेः न सांख्यपदार्थानामत्र प्रसङ्गः । तर्हि 'पञ्च पञ्चजनाः' इतिवाक्यार्थो वक्तव्यः । उच्यते—पञ्चजनशब्दोऽयं समस्तः कस्यचित्संज्ञा 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति संज्ञायां समासविधानात् । ततः पञ्चजनसंज्ञकाः पदार्थाः पञ्चसंख्या इत्युक्तं भवति । संज्ञिनस्तु वाक्यशेषात्प्राणादयोऽवगन्तव्याः । 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति द्वितीयैः प्राणादिशब्दैः पञ्चानां साक्षी चिदात्मेत्यभिधीयते । तस्माद्वाक्यशेषात्प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः ॥ ३८ ॥

[४ कारणत्वाधिकरणम्]

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।
(ब्र० सू० १।४।१४)

ननु वेदान्तानां समन्वयो युक्तो न भवति। कस्मात्? वेदान्तानां बहुशो विरोधदर्शनात् । परस्परविरुद्धानामप्रमाणत्वात् । तथाहि—'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इति तैत्तिरीयके वियदादीन्प्रति स्रष्टृत्वं श्रूयते आत्मनः । छान्दोग्ये 'तत्तेजोऽसृजत' इति तेजआदीन्प्रति । ऐतरेयके 'स इमाँल्लोकानसृजत' इति लोकान्प्रति । मुण्डके 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति प्राणादीन्प्रति । कारणस्वरूपोपन्यासेऽपि विरोधः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति छान्दोग्ये सद्रूपं कारणमवगम्यते । अन्यत्र 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसद्रूपत्वम् । ऐतरेयके 'आत्मा वा इदमेक एवाग्रमासीत्' इति । ततो विरोधात्समन्वयो न सम्भवतीति प्राप्ते सिद्धान्तः—

व्योमादिसृज्यविसरस्तदनुक्रमो वा
भूयाद्विवादविषयो भुवनैकहेतुम् ।
त्वामेव वक्ति निगमोक्तिरनामरूप-
मात्मस्वरूपमसदात्मपदद्वयेन ॥ ३९ ॥

भवतु नाम सृज्येषु वियदादिषु तत्क्रमे च विवादः, वि-

यदादिषु तात्पर्याभावात् । अद्वितीयबोधायैव हि तदुपन्यासः । तात्पर्यविषये हि जगत्स्रष्टरि ब्रह्मणि न क्वापि विवादोऽस्ति, क्वचित्सच्छब्देनोक्तस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र सर्वजीवस्वरूपात्रिवक्षया आत्मशब्देनाभिधानात् । यत्त्वसच्छब्देनाभिधानं तदव्याकृतत्वाभिमानाभिप्रायं न त्वसन्ताभावाभिप्रायम् , 'कथमसतः सज्जायेत' इति श्रुत्यन्तरेणाभावस्य कारणत्वनिषेधात् । तस्मादेकवाक्यतायाः सुसम्पादत्वाद्विरोधाभावाद्युक्तो जगत्कारणे वेदान्तानां समन्वयः ॥ ३९ ॥

[५ बालाक्यधिकरणम्]

जगद्वाचित्वात् । (ब्र० सू० १।४।१६)

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि श्रूयतेऽस्य विषयः । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्युपक्रम्य 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वेदितव्यः' इत्यादि । तत्र परमेश्वरोऽन्यो वेति संशये एतेषां पुरुषाणां कर्ता जीव एव कर्मशब्दस्यापूर्ववाचित्वात्, तद्द्वारा तत्कर्तृत्वसम्भवात् । निर्धूतसकलकर्मसम्बन्धे परमेश्वरे तदभावात् जीव एवायमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु--

ब्रह्मेति षोडश रविप्रमुखान्वदन्तं
बालाकिमुक्तमनृतं भवतेत्युदीर्य ।

त्वामन्तरेण कथयेत्किमु यस्य चैत-
त्कर्मेत्यनेन वचसान्यमजातशत्रुः ॥ ४० ॥

कर्मशब्दस्य एतच्छब्दसामानाधिकरण्येन जगद्वाचित्वात् क्रियत इति कर्म कार्यमात्रवाचि न तु चलनमात्रवाचि । तथा सति षोडशपुरुषचलनात्मककर्ममात्रकर्ता प्रतिपाद्यः स्यात् । तथा सत्यजातशत्रोरपि बालाकिनं प्रत्युक्तदोषः स्यात् ॥ ४० ॥

[६ वाक्यान्वयाधिकरणम्]

वाक्यान्वयात् । (ब्र०सू०१।४।१९)

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति बृहदारण्यकेऽस्य विषयः । अत्र श्रोतव्यत्वेन प्रतीयमान आत्मा जीवो वा परमात्मा वेति सन्देहे जीवात्मैव । कस्मात् ? 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिवाक्यैः भोगप्रीतियुक्तस्यात्मनः संसारित्वसूचनात् । अयमस्यार्थः–पत्यौ प्रीतिं कुर्वन्ती जाया न पत्युः सुखाय प्रीतिं करोति किन्तु स्वसुखायैव । एवं पुत्रादयोऽपि स्वस्वभोगायैवेतरत्र प्रीतिं कुर्वन्तीति भोगप्रीतियुक्तमात्मानमुपक्रम्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति श्रवणात्संसारीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

मैत्रेय्यभीकमुनिसूक्तमुपक्रमोप-
संहारयोरमृतभावमहन्निरीक्ष्य ।
जीवं पुरोदितमनूद्य शिव त्वयास्य
श्रोतव्यवाक्यमभिदां वदतीति मन्ये ॥ ४१ ॥

एतद्वाक्योपक्रमे मैत्रेयी वित्तसाध्येन कर्मणा किममृतं स्यादिति पप्रच्छ । याज्ञवल्क्यस्तु 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इत्यमृतत्वप्रत्याशापि कर्मणा नास्तीत्युत्तरमाह । उप-संहारेऽपि 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्युपसंहृतम् । अत उप क्रमोपसंहारवशादमृतत्वसाधनमात्मज्ञानमत्र प्रतिपाद्यम् । जीवा-त्मज्ञानं च नामृतत्वसाधनम् । तस्माद् भोगप्रीतिमज्जीवमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते । श्लोकार्थस्तु—उपक्रमोपसंहाराभ्याममृत-त्वसाधनमात्मज्ञानमात्रमित्यहं ज्ञात्वा मैत्रेय्यभीकमुनिसूक्तं य-दस्ति तत्रोपक्रमोपसंहाराभ्यां पुरोदितं जीवं चानूद्य जीवस्या-स्य हे शिव त्वदभेदम् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति वाक्यं वदतीति मन्ये इति ॥ ४१ ॥

[७ प्रकृत्यधिकरणम्]

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

(ब्र०सू० १।४।२३)

जगत्कारणत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि वाक्यानि विषयः ।

अत्र किं ब्रह्म निमित्तमेवोपादानमपीति वा इति सन्देहे निमित्तकारणमेव 'तदैक्षत' इति स्रज्यकार्यविषये पर्यालोचनश्रवणात्। पर्यालोचनं च कुलालादिनिमित्तकारणे दृष्टं नोपादाने मृदादौ। तस्मान्निमित्तकारणमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति —

निःशेषकार्यविषयेण निमित्तहेतु-
शलोचनेन जगतामसि चन्द्रमौले।
भूभूधरप्रभृतिभूरिपदार्थभाव-
संकल्पसंघटनया प्रकृतिश्च तेषाम्॥ ४२॥

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति ईक्षितुरेव प्रकर्षेणोत्पत्त्या बहुभावः श्रूयते। तत उपादानमपीति। 'यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इति सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च ब्रह्मण उपादानत्वे घटते। उपादानब्रह्मव्यतिरेकेण कार्याणामभावात् तदुपपादयितुं शक्यम्। केवलनिमित्तत्वे तु सर्वेषु ब्रह्मव्यतिरिक्तेषु सत्सु एकविज्ञाने सर्वविज्ञानं कथं प्रतिपाद्यताम्? तस्मान्निमित्तोपादानं ब्रह्मेति॥ ४२॥

[८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम्]

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः। (ब्र०सू० १।४।२८)

अत्र वेदान्ता विषयाः। ब्रह्मण इव परमाणुशून्यादीनामपि जगत्कारणत्वं श्रौतमस्ति। अथवा ब्रह्मण एव नियतं का-

रणत्वमिति संशयः। अण्वादीनामपि कारणत्वं श्रुतं वटधानादि-दृष्टान्तश्रवणात् । तथाहि छान्दोग्ये षष्ठाध्याये श्वेतकेतुं प्रत्युप-दिशन्नुद्दालकः सूक्ष्मे तत्त्वे स्थूलस्य जगतोऽन्तर्भावं प्रतिपादयि-तुमाह । वृक्षगर्भितानि वटबीजानि दृष्टान्तत्वेनोदाजहार । अत-स्तादृशाः परमाणवो दार्ष्टान्तिकाः श्रुता भवन्ति । शून्यस्य त्वसदेवेदमग्र आसीदिति कारणत्वं श्रुतम् । साक्षादेवाभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये इत्यभावकालपक्षौ श्रौतौ । तस्मात् परमाण्वादीनामपि श्रौतं कारणत्वमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह-

अव्याकृतत्वहृदयादखिलप्रमाण-
वेद्येतरप्रकृतिताविषयाच्च भावात् ।
किं ते विरुद्धमभिधानमसत्पदेन
विश्वेश सूक्ष्मवटबीजनिदर्शनं च ॥ ४३ ॥

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं शून्यादिमते नोपपद्यते, शून्या-दिभिरजन्यस्य ब्रह्मणः शून्यादिज्ञानेनाज्ञातत्वात् । धानादिदृ-ष्टान्तस्तु ब्रह्मण्यपीन्द्रियागम्यतया सूक्ष्मत्वादुपपद्यते । अस-च्छब्दस्य नामरूपराहित्याभिप्रायश्चतुर्थाधिकरणे वर्णितः । अ-भावकालपक्षौ तु पूर्वपक्षश्रुत्योपन्यस्तौ । श्लोकार्थस्तु—अव्या-कृतत्वहृदयादिति । हे विश्वेश असत्पदस्य नामरूपरहितब्रह्म-तात्पर्येण प्रयुक्तत्वादखिलप्रमाणप्रत्यक्षादिप्रमाणागम्यतया ब्र-ह्मणोऽपि सूक्ष्मत्वात् ब्रह्मण्यसत्पदं वटधानदृष्टान्तश्चोभयमुपप-

द्यते । प्रत्यक्षादिप्रमाणवेद्येतरा प्रकृतिः स्वभावो यस्य स त-थोक्तः तस्य भावस्तत्ता तद्विषयात् भावादभिप्रायादित्यर्थः ॥४३॥

ननु प्रथमाध्यायप्रतिपादितन्यायैः तत्तदधिकरणविषयवा-क्यानामेवार्थस्य निर्णीतत्वात् शाखान्तरगतानां वाक्यानामर्थ-निर्णयः कथमित्याशङ्क्य सूत्रकारेणैवमाशङ्कानेनैव सूत्रेण प-रिहृतेत्याह—

न्यायव्रजैः कतिपयश्रुतिमस्तकानां
तात्पर्यनिर्णयकृते कथितैरमीभिः ।
कृत्स्ना मृषेतरगिरामवसानवाचः
पञ्चानन त्वयि भवन्ति समन्वितार्थाः ॥ ४४ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः । एतेन प्रथमाध्या-यप्रदर्शितेन न्यायसमूहेनैवानन्तशाखागतवाक्यानामर्थनिर्णय इति सर्वज्ञशिरोमणिना व्यासेनैवातिदेशः कृत इति नानुपप-त्तिर्वर्णकान्तरमिदमिति । श्लोकार्थस्तु स्पष्ट एव ॥ ४४ ॥

इति श्रीमत्परशुराममिश्रात्मजामित्रमिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्ट-
सूनुधर्म्मयदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

———

समाप्तश्चाध्यायः प्रथमः ॥

———

[१ स्मृत्यधिकरणम्]

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-
दोषप्रसङ्गात् । (ब्र०सू० २।१।१)

अस्मिन् पादे समन्वयमाक्षिप्य समाधीयते । तत्रास्मिन्न-धिकरणे वैदिकस्य समन्वयस्य सांख्यस्मृत्या सङ्कोचोऽस्ति न वेति संशयः । सङ्कोचोऽस्ति । कुतः । सांख्यस्मृतेरनवकाश-त्वेन प्रबलत्वात् । सांख्यस्मृतिरिह वस्तुतत्त्वनिरूपणाय प्रवृत्ता न तु अनुष्ठेयधर्मं कंचिदपि प्रतिपादयति। यदि तस्मिन्नपि वस्तु-न्यसौ बाध्येत तदा निरवकाशा स्यात् । वेदस्तु धर्मब्रह्मणी प्रतिपादयन् ब्रह्मण्येकस्मिन्बाध्यमानोऽपि धर्मे सावकाशः । तस्मादनवकाशया स्मृत्या सावकाशस्य वेदस्य सङ्कोचो युक्त इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

त्वत्कारणत्वकथने पटुभिः प्रसिद्ध-
वेदैकमूलकतयातिपटीयसीभिः ।
मन्वादिसूक्तिभिरमूलतया प्रधान-
हेतुत्ववादिकपिलस्मृतिरेव बाध्या ॥ ४५ ॥

सांख्यस्मृत्या वेदस्य सङ्कोचो न युक्तः । कुतः । मन्वा-दिस्मृतिभिः ब्रह्मकारणवादिनीभिः बाधितत्वात् । प्रबला हि मन्वादिस्मृतयः प्रत्यक्षवेदमूलत्वात् । न तथा कपिलस्मृतेः

प्रधानकारणवादिन्या मूलभूतं कञ्चन वेदमुपलभामहे। दृश्यमानवेदवाक्यानां ब्रह्मपरत्वस्य पूर्वमेव निर्णीतत्वात्। तस्मान्न सांख्यस्मृत्या वेदस्य सङ्कोचो युक्तः। श्लोकार्थस्तु स्फुट एव॥ ४५॥

[२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्]

एतेन योगः प्रत्युक्तः। (ब्र०सू०२।१।३)

योगस्मृत्या वेदस्य सङ्कोचोऽस्ति न वेति संशये तया वेदस्य सङ्कोचोऽस्त्येव। योगस्मृतिः पातञ्जलशास्त्रम्। तत्राष्टाङ्गयोगः प्रतिपादितः। स च प्रत्यक्षवेदेष्वप्युपलभ्यते, श्वेताश्वतरोपनिषदि सांख्ययोगस्य प्रपञ्चितत्वात्। किञ्च, अयं योगस्तत्त्वज्ञानोपयोगी दृश्यते। 'त्वग्रया बुध्येति' योगसाध्यस्य चित्तैकाग्र्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वश्रवणात्। ततः प्रमाणभूतं योगशास्त्रं, तच्च प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं वक्ति। तस्माद्योगस्मृत्या वेदस्य सङ्कोचोऽस्तीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

स्थाणो भवत्प्रमितिसाधनयोगचिन्ता-
भागे प्रमाकरणभावमुपागतापि।
पातञ्जलस्मृतिरसौ भवति प्रमाणं
नैव प्रधानमुखतत्त्वनिरूपणांशे॥ ४६॥

अष्टाङ्गयोगतात्पर्यवत्त्वात् प्रमाणभूतापि योगस्मृतिरवैदि-

के प्रधानादौ न प्रमाणं, तत्र तात्पर्याभावात् । तथाहि 'अथ योगानुशासनम्' इति प्रतिज्ञाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति योगस्यैव लक्षणमुक्त्वा तमेव कृत्स्नशास्त्रे प्रपञ्चयामास इति न तत्त्वनिरूपणे तात्पर्य्यम् । प्रधानादीनि तु न प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातानि । किं तर्हि ? द्वितीयपादे यमनियमादिसाधनप्रतिपादनं हानहेतुं च विवेचयन् प्रसङ्गात्सांख्यस्मृतिप्रसिद्धानि प्रधानादीनि व्याजहार । ततो न तत्र तात्पर्य्यम् । तस्मान्न योगस्मृत्या वेदस्य सङ्कोचः ॥ ४६ ॥

[३ विलक्षणत्वाधिकरणम्]

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च
शब्दात् । (ब्र०सू०२।१।४)

अचेतनं जगच्चेतनाज्जायते न वेति संशये अचेतनं जगन्न जायते चेतनाद्ब्रह्मणः ब्रह्मविलक्षणत्वात् । यद्येन विलक्षणं तत्तस्मान्न जायते, यथा गोर्महिष इत्यनेन तर्केण समन्वयो बाध्यत इति प्राप्ते सिद्धान्तयति--

जन्तौ शकृज्जनुषि वृश्चिकनाम्नि देह-
जन्ये च कुन्तलभरे व्यभिचारशाली ।
विश्वैकनायक विलक्षणभावहेतु-
र्लोके भवत्प्रभवतां नहि रोद्धुमीष्टे ॥ ४७ ॥

विलक्षणभावहेतुर्वैलक्षण्यहेतुरित्यर्थः । यद्येन विलक्षणं तत्तस्मान्न जायते इति व्याप्तेर्वृश्चिकादौ व्यभिचारो दृश्यते, अचेतनात् गोमयात् चेतनस्य वृश्चिकस्योत्पत्तेः, चेतनात्पुरुषादचेतनानां केशादीनामुत्पत्तेः । अतो वेदनिरपेक्षशुष्कतर्को न बाधकः ॥ ४७ ॥

[४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्]

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः । (ब्र०सू०२।१।१२)

तर्हि कणादबुद्धादिस्मृतिभिस्तदीयतर्कैश्च समन्वयो बाध्यताम् । कणादो हि महर्षिः परमाणूनां जगत्कारणत्वं सस्मार, तर्कं च तस्मिन्नर्थे प्रोवाच—विमतं द्व्यणुकादिकं स्वस्मात् न्यूनपरिमाणेनारब्धं कार्यद्रव्यत्वात् यथा तन्तुभिः पटः । बुद्धश्च भगवतो विष्णोरवतारः अभावं जगद्धेतुं वदति स्म । तर्कं तदनुकूलमाह—विमतं भावरूपं जगदभावपुरस्सरं भवितुमर्हति भावरूपत्वात् यथा सुषुप्तिपुरस्सरः स्वप्नप्रपञ्च इति । ततः प्रबलैः कणादादिमतैर्बाध इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

स्वन्यूनहेतुजनितत्वकथा न कार्य्या
द्रव्यस्य देव जगतीह भवद्विवर्त्ते ।
दूरस्थिताचलमहाविटपिप्रसूत-
दूर्वाङ्कुरप्रकरविभ्रमदर्शनेन ॥ ४८ ॥

स्वप्नप्रपञ्चजनिपूर्वसुषुप्तिकाले
प्राज्ञात्मनः पशुपते तव वर्त्तनेन ।
वाक्यैः सपक्षविरहाद्भुवनस्य भाव-
कार्यस्य दुर्वचमभावपुरस्सरत्वम् ॥ ४९ ॥

यदा वैदिकशिरोमणिना पुराणकर्त्रा तत्र तत्र प्रसङ्गादुदाहृता प्रकृतिपुरुषादिप्रतिपादिका सांख्ययोगादिस्मृतिर्जगत्कारणविषये दौर्बल्येन परित्यक्ता तदा निखिलैः शिष्टैरुपेक्षितानां कणादा-दिमतानां दौर्बल्यमिति किमु वक्तव्यम् । न खलु ब्राह्मपाद्मादि-पुराणेषु क्वचिदपि प्रसङ्गात् द्व्यणुकादिप्रक्रियोदाहृता प्रत्युत 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' इति बहुशो नि-न्दोपलभ्यते । यस्तु न्यूनारभ्यत्वनियम उक्तः, नासौ वि-वर्त्तवादेऽस्ति पुरःस्थितपर्वताग्रस्थितैर्महावृक्षैरल्पदूर्वाङ्कुरप्रकरवि-भ्रमस्य जन्यमानत्वात् । यदप्यभावपुरस्सरत्वानुमानं तत्रापि साध्यविकलो दृष्टान्तः सुषुप्तेरवस्थात्वेनात्मनः सद्रूपस्याङ्गीक-रणीयत्वे सति स्वप्नस्याभावपुरस्सरत्वाभावात् । तस्मादेतैर्मतै-र्नास्ति बाधः । प्रथमश्लोकेन न्यायमतस्य द्वितीयेन बौद्धमतस्य निरासः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

[५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्]

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । (ब्र०सू०२।१।१३)

समन्वयेनावगम्यमानमद्वैतं प्रत्यक्षादिसिद्धेन भोक्तृभोग्य-भेदेन बाध्यत इति चेत्--

भूतेशितस्त्वदभिदां नहि भोजकादे-
र्भेदो निषेधति समन्वयतः प्रतीताम् ।
फेनोर्मिबुद्बुदपृषद्वपुषा प्रसिद्धः
सोऽयं मिषन्नपि यथा जलधेरभेदम् ॥ ५० ॥

तरङ्गादिरूपेण भेदस्य समुद्ररूपेणाभेदस्य च दृष्टत्वेन भेदाभेदयोर्विरोधाभावात् , भेदाभेदविरोधव्यवहारस्याकारभेदेनापि रहिते अत्यन्तमेकस्मिन्नपि वस्तुनि सावकाशत्वात् , तस्मात् ब्रह्माकारेणाद्वैतं भोक्तृभोग्याकारेण द्वैतमिति आकारभेदाद्व्यवस्थासिद्धौ न विरोधः ॥ ५० ॥

[६ आरम्भणाधिकरणम्]

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। (ब्र०सू०२।१।१४)

ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य च भेदाभेदौ तात्त्विकौ व्यावहारिकौ वेति संशये समुद्रतरङ्गयोरिव तयोर्भेदाभेदौ तात्त्विकौ बाधाभावादिति प्राप्ते सिद्धान्तः--

कल्लोलिनी विट इव त्वयि कामवैरिन्
आकारभेदविरहादविशेषगन्धे ।

भेदाभिदे परमिह व्यवहारसिद्धे
त्वामागमो वदति तात्त्विकमद्वितीयम् ॥ ५१ ॥

भेदाभिदे न तात्त्विके श्रुतियुक्तिभ्यां बाधात् । तथाहि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतिर्भेदं बाधते, युक्तिश्च परस्परोपमर्दात्मकयोर्भेदाभेदयोरेकत्रासम्भवात् एकस्मिन् चन्द्रमसि द्वित्वासम्भवात् । यदुक्तं पूर्वाधिकरणे आकारभेदाद्भेद इति तदप्यसत्, अद्वैतवस्तुन्याकारभेदस्यैवासम्प्रतिपत्तेरिति । समुद्रादौ तु दृष्टत्वादभ्युपगम्यते । न हि दृष्टेऽनुपपत्तिरस्ति । अत्रापि ब्रह्माकारजगदाकारौ दृष्टाविति चेन्न, ब्रह्मणः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् । तस्मात् श्रुतियुक्तिबाधितत्वात् व्यावहारिकौ भेदाभेदौ । किं तर्हि तत्त्वमिति चेत्, अद्वैतमेव तत्त्वमिति वदामः । कार्यस्य कारणानतिरेकेण कारणमात्रस्य वस्तुत्वात् । तथा श्रुतिर्मृत्तिकादिदृष्टान्तैः कारणस्यैव सत्यत्वं प्रतिपादयति । 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्—एवं सोम्य स आदेशो भवतीति' । तत्र घटादीनां पृथग्वस्तुत्वनिरासाय विकारशब्देन श्रुतिस्तानुदाहरति । मृद्वस्तुनो विकाराः संस्थानविशेषा घटादयो न पृथग्वस्तुभूताः, यथा देवदत्तस्य बाल्ययौवनस्थाविरादयस्तद्वत् । एवं सति घटाकारप्रतिभासदशायामपि मृन्मात्रं स्वतन्त्रं वस्तु । ततो मृद्यवगतायां घटादीनां यत्तात्त्विकं स्वरूपं तत्सर्वमवगतम् । आकारविशेषा न ज्ञायन्त इति

चेत्, मा ज्ञायन्तां नाम तेषां वस्तुभूतानां जिज्ञासानर्हत्वात्। चक्षुषा प्रतिभासमाना विकाराः निरूपिताः सन्तो मृद्व्यतिरेकेण न स्वरूपं किञ्चिल्लभन्ते, घटोऽयं शरावोऽयमिति वादं निष्पाद्यमानं नामधेयमात्रं लभन्ते। अतो निर्वस्तुकत्वे सति उपलभ्यमानस्वरूपेण मिथ्यात्वलक्षणेनोपेतत्वात् असत्या विकाराः। मृत्तिका तु विकारव्यतिरेकेणापि स्वरूपं लभत इति सत्या। तथा ब्रह्मोपदेशोऽवगन्तव्यः। ब्रह्मणि मृत्तिकान्यायस्य जगति घटादिन्यायस्य योजयितुं शक्यत्वात्। तस्माज्जगतो ब्रह्माभेदात् अद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम्। एवंविधविचारशून्यानां पुरुषाणामापातदृष्ट्या वेदेनाभ्युपेताद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रतिपत्तेश्च सद्भावात् समुद्रतरङ्गन्यायेन भेदाभेदाववभासेते। तस्माद्व्यावहारिकाविति स्थितिः॥ ५१॥

[७ इतरव्यपदेशाधिकरणम्]

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।

(ब्र०सू०२।१।२१)

परमेश्वरो हि केषांचित् जीवानां संसारासक्तानां वैराग्यादिकं हितं न निर्मिमीते अहितं च नरकहेतुमधर्मं निर्मिमीते। निर्मिमाणश्च स्वस्य जीवैरभेदं सर्वज्ञतया पश्यति। तस्मात् स्वस्यैव हिताकरणमहितकरणं च प्रसज्येयाताम्। एतच्च न युक्तं, नहि लोके प्रेक्षावान् कश्चिदपि स्वस्य हितं न करोति अहितं

च करोति । तस्माद्धितांकरणादिदोष इति प्राप्ते सिद्धान्तः—

स्वाभिन्नजीवसुखदुःखभरे मृषात्वं
पश्यन्निजात्मनि च लेपविमुक्तभावम् ।
शम्भो शरीरिगतशर्मविषादजातै
र्न स्पृश्यसे नलिनपत्रमिवाम्बुलेशैः ॥ ५२ ॥

सर्वज्ञत्वादीश्वरः जीवसंसारस्य मिथ्यात्वं स्वस्य निर्लेपत्वं च पश्यति । तस्मान्न हिताहितभाक्त्वदोषः ॥ ५२ ॥

[८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम्]

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।
(ब्र०सू० २।१।२४)

अद्वितीयब्रह्मणः सकाशात् विचित्रगगनादिक्रमिकसृष्टिः सम्भवति न वेति संशये न सम्भवतीति ब्रूमः । कुतः । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति ब्रह्मणः स्वगतसजातीयविजातीयैर्भेदैः शून्यत्वमवगम्यते । स्रष्टव्यानि चाकाशवाय्वग्न्यादीनि विचित्राणि । न ह्यविचित्रे कारणे कार्यवैचित्र्यं युक्तम्, अन्यथैकस्मादपि क्षीराद्दधितैलाद्यनेकविचित्रकार्यप्रसङ्गात् । क्रमश्चाकाशादीनां श्रुत्यावगम्यते । न च तस्य व्यवस्थापकं किञ्चिदस्ति । तस्मादनेककार्याणां क्रमेण जन्म अद्वितीयब्रह्मणो न सम्भवतीति प्रा-

मे सिद्धान्तः—

किं चित्रमत्र गगनादिविचित्रशिल्प-
मेकाद्वयप्रकृतिकोऽपि यदातनोषि ।
अन्यादृशी निगमशक्त्यनुभूतिगम्या
साचिव्यमाचरति चेत्तव शाम्बरी सा ॥५३॥

यद्यपि तत्त्वतो ब्रह्माद्वैतं, तथापि श्रुत्यनुमानानुभवगम्या माया । तस्माद्विचित्रगगनादिक्रमसृष्टिकारणं भवति ब्रह्म ।'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतिः । मायैवाविद्या, उभयोरप्यनाद्युपादानज्ञाननिवर्त्यत्वात् । न च मायाङ्गीकारेऽद्वैतक्षतिः, वास्तवस्य द्वितीयस्याभावात्, न जानामीत्याद्यनुभवेनानुमानेन च तस्याः सिद्धेः । अत एकमपि ब्रह्माविद्यासहायवशात् नानाकार्यजनकं भवति । न च कार्यक्रमस्य व्यवस्थापकाभावः, अविद्यागतानां शक्तिविशेषाणां व्यवस्थापकत्वात् । तस्माददद्वितीयब्रह्मणो विचित्रक्रमिकनानाकार्याणां सृष्टिरुपपद्यते ॥५३॥

[९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्]

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।

(ब्र० सू० २।१।२६)

आरम्भणाधिकरणे कार्यकारणयोरभेदः प्रतिपादितः । अतो न वैशेषिकादिवदारम्भवादो ब्रह्मवादिनोऽभिमतः । त-

स्मात् क्षीरदधिन्यायेन परिणामो वक्तव्यः । तत्र किं ब्रह्म कात्स्न्येंन परिणमते उतैकदेशेन वा ? नाद्यः, कात्स्न्येंन परिणामे ब्रह्मणोऽनित्यत्वप्रसङ्गात् क्षीरवत् । द्वितीये, सावयवत्वप्रसङ्गात् । तस्मान्न परिणाम इति प्राप्ते सिद्धान्तः—

स्यातां न तौ भवति शंकर माययैव
व्योमादिरूपविकृतिं प्रतिपद्यमाने ।
कृत्स्नैकदेशपरिणत्युररीक्रियायां
सम्भावितौ विलयसावयवत्वदोषौ ॥ ५४ ॥

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतेः ब्रह्मणो मायाशक्तिभिः जगद्रूपेण विवर्त्तः । न त्वसौ वास्तवः । तेन कृत्स्नैकदेशविकल्पयोर्नात्रावकाशः । तस्माद्युज्यते विवर्त्तरूपजगदुपादानत्वं ब्रह्मणः ॥ ५४ ॥

[१० सर्वोपेताधिकरणम्]

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । (ब्र० सू० २।१।३०)

लोके मायाविनामैन्द्रजालिकानां शरीरित्वदर्शनादशरीरस्य ब्रह्मणो न माया सम्भवतीति प्राप्ते सिद्धान्तः—

रूपं विनापि तव लोकविलक्षणस्य
मायाविनो भुवनसृष्टिरविद्ययैव ।

धामादिकर्म तृणदारुमृदो विनापि
माहेन्द्रजालिकजनस्य यथा जगत्याम् ॥५५॥

गृहादिनिर्मातॄणां निर्मातृत्वे स्वव्यतिरिक्तमृद्दारुतृणादिबाह्यसाधनकर्मसापेक्षत्वदर्शनेऽपि ऐन्द्रजालिकस्य तृणदारुमृदो विनापि बाह्यसाधननैरपेक्ष्येण यथा गृहादिनिर्मातृत्वं तथाऽलौकिकमायाविनः। शरीरसापेक्ष्येण निर्मातृत्वे प्रत्यक्षं प्रमाणमिति चेत्तर्हि ब्रह्मणोऽपि शरीरनैरपेक्ष्येण जगन्निर्मातृत्वमस्तु। मायासद्भावेऽपि 'मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतिः प्रमाणमस्तु ॥५५॥

[११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्]

न प्रयोजनवत्त्वात्। (ब्र० सू० २।१।३२)

'आनन्दो ब्रह्म' इति शास्त्रेण नित्यतृप्तः परमेश्वरः। तादृशस्य सृष्टिविषयेच्छायामभ्युपगम्यमानायां नित्यतृप्तता व्याहन्येत। अनभ्युपगम्यमानायामबुद्धिपूर्विकां सृष्टिं विरचयत उन्मत्तनरतुल्यता प्रसज्येत इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

प्रस्तूयते मुहुरियं भवता कपर्दिन्
अर्थं विनाप्यखिलविष्टपसृष्टिलीला।
मेधाविभिर्विहितयो मृगयादिरूपाः
कस्मै फलाय जगतीपतिभिः क्रियन्ते ॥५६॥

बुद्धिमद्भिरेव राजादिभिरन्तरेण प्रयोजनं लीलया मृगयादिप्रवृत्तिः क्रियते, श्वासोच्छ्वासव्यवहारस्तु सार्वजनीनः, व्यर्थचेष्टाश्च बालैः क्रियमाणाः बहुव्यो दृश्यन्ते, तद्वन्नित्यतृप्तोऽपीश्वरः प्रयोजनमन्तरेणाप्यनुन्मत्तः सन् अशेषं जगत् सृजतु ॥ ५६ ॥

[१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्]

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि
दर्शयति । (ब्र०सू०२।१।३४)

ईश्वरो देवादीनत्यन्तं सुखिनः सृजति, पश्वादीनत्यन्तदुःखिनः, मनुष्यांश्च मध्यमान् । एवं तारतम्येन पुरुषविशेषेषु सुखदुःखे सृजन्नीश्वरः कथं विषमो न स्यात् ? कथं च नीचैरसन्तं जुगुप्सितं देवतिर्यङ्मनुष्याशेषजगदुपसंहरान्निर्घृणो न भवेत् ? तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयातामिति प्राप्ते सिद्धान्तः— .

तत्तत्क्रियासमुचितोत्तममध्यमादि-
भावार्प्पणान्न विषमो भवसि प्रजानाम् ।
जन्तून् सभाजयितुमेव महासुषुप्त्या
निर्म्मन्थितो गिरिश निर्घृणता कुतस्ते ॥५७॥

न तावदीश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गोऽस्ति, प्राणिनामुत्तममध्यमाधमानां लक्षणवैषम्ये तत्तत्कर्मणामेव प्रयोजकत्वात् । न

नैतावता ईश्वरस्य स्वातन्त्र्यहानिः, अन्तर्यामितया कर्माध्यक्षत्वात् । नन्वेवं सति घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तन्याय आपद्यते, ईश्वरे वैषम्यं परिहर्त्तुं कर्मणो वैषम्यं हेतुमुक्त्वा पुनरपीश्वरस्य स्वातन्त्र्यसिद्ध्ये तत्कर्मनियामकत्वे अभ्युपगम्यमाने पुनरीश्वरस्यैव वैषम्यप्रसङ्गात् । नायं दोषः । नियामकत्वं नाम तत्तद्वस्तुशक्तीनामव्यवस्थापरिहर्तृत्वमात्रत्वम् । शक्तयस्तु मायाशरीरभूताः । न तासामुत्पादक ईश्वरः । ततश्च स्वशक्तिवशात् कर्मणां वैषम्यहेतुत्वेऽपि न व्यवस्थापकस्येश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गः । संहारस्य सुषुप्तिवत् दुःखाजनकत्वात् प्रत्युत सर्वक्लेशनिवर्तकत्वात् सघृणत्वमेव । तस्मान्न कोऽपि दोष इति ॥ ५७ ॥

[१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम्]

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । (ब्र० सू० २।१।३७)

प्रकृतित्वं नाम कार्याकारेण विक्रियमाणत्वम् । तच्च सगुण एव लोके मृदादौ दृष्टम् । ततो निर्गुणस्य ब्रह्मणो न प्रकृतितेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

गंगावतंस गुणगन्धविवर्जितोऽपि
त्वं जायसे त्रिजगदध्यसनैकभूमिः ।
मालिन्यदूषितमहीसुरभाजि जातौ
शूद्रभ्रमः किमु जनस्य न बोभवीति ॥ ५८ ॥

यद्यपि प्रक्रियतेऽनयेति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या विक्रियमाणत्वं प्रतीयते तथापि तद्विक्रियमाणत्वं द्वेधा सम्भवति–क्षीरादिव त्परिणामित्वेन वा रज्ज्वादिवद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन वा । अत्र निर्गुणस्य परिणामित्वासम्भवेऽपि भ्रमाधिष्ठानत्वमस्ति । दृश्यते निर्गुणेऽपि जात्यादौ भ्रमाधिष्ठानता, मलिनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा शूद्रोऽयमिति भ्रान्तव्यवहारदर्शनात् । तस्मात् निर्गुणमपि ब्रह्म प्रकृतिरिति ॥ ५८ ॥

इति श्रीमत्परशुराममिश्रात्मजामित्रामिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्टसूनु-
धर्म्मय्यदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

पूर्वोक्तसमन्वयः परमतदूषणेन स्थिरीक्रियते इत्याह—

एतावता प्रकरणेन यदभ्यधायि
सर्वागमान्तवचसां त्वयि सामरस्यम् ।
व्यासोदितेन विमतस्थितिदूषणेन
दाक्षायणीधव तदत्र दृढीकरोति ॥ ५९ ॥

[१ रचनानुपपत्त्यधिकरणम्]

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् । (ब्र० सू०२।२।१)

प्रधानं जगतो हेतुर्न वेति संशये, सांख्यास्तु–सुखदुःखमो-

ह्लात्मकं प्रधानं जगतः प्रकृतिः, जगति सुखदुःखान्वयदर्शनात् । घटादयो लभ्यमानाः सुखदा भवन्ति उदकाहरणादिकार्यकारित्वात् । त एवान्यैरपह्रियमाणास्तस्यैव दुःखदा भवन्ति । यदा उदकाहरणादिकं नापेक्षितं तदा न सुखदुःखे जनयन्ति केवलमुपेक्षणीयत्वेनावतिष्ठन्ते । तदिदमुपेक्षाविषयत्वं मोहः, मुह वैचित्त्य इति धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात् । अतः सुखदुःखमोहान्वयदर्शनात् प्रधानं जगतः प्रकृतिरिति वदन्तीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

संदृश्यमाननियताकृतिसन्निवेश-
वैचित्र्यवर्म्मितचराचरसंविधायै ।
विज्ञानशेवधिमृते विषमेक्षण त्वां
कल्पेत किन्नु कपिलाभिमतं प्रधानम् ॥६०॥

न प्रधानं जगतो हेतुः, देहेन्द्रियमहीधरादिरूपस्य विचित्रस्य प्रतिनियतसन्निवेशविशेषस्य च जगतो रचनायामचेतनस्य प्रधानस्य योग्यत्वासम्भवात् । लोकेऽपि प्रतिनियतकार्यस्य विचित्रप्रासादादेरतिबुद्धिमत्कर्तृत्वोपलम्भात् । आस्तां तावदियं रचना तत्सिद्ध्यर्थप्रवृत्तिरपि नाचेतनस्योपपद्यते, चेतनानधिष्ठितशकटादौ तददर्शनात् । अथ चेतनस्य प्रकृत्याधिष्ठातृत्वमभ्युपगम्यते, तर्ह्यसङ्गत्वं पुरुषस्य हीयेतेत्यपसिद्धान्तः । यदुक्तं सुखदुःखमोहान्विता घटादय इति तदसत्, सुखादी-

नामान्तरत्वात् घटादीनां बाह्यत्वान्न प्रधानं जगतो हेतुः ॥६०॥

[२ महद्दीर्घाधिकरणम्]

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्। (ब्र०सू०२।२।११)

पूर्वस्मिन् पादे चेतनात् ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगत् जायत इत्यत्र सांख्यान् प्रति लोकसिद्धं गोमयवृश्चिकादिनिदर्शनमभिहितम्। तावता सांख्यैः क्रियमाणस्याक्षेपस्य परिहृतत्वात् स्वपक्षसाधनं संपन्नम् । परपक्षदूषणं चास्मिन् पादे प्रक्रम्य पूर्वाधिकरणे सांख्यमतं दूषितम् । इतः परं वैशेषिकमतं दूषयितव्यम् । तन्मतस्य प्रक्रियाबहुलत्वात् तद्वासनावासितः पुरुषः स्वमतसिद्धदृष्टान्ताभावेन विलक्षणात् ब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तिं न बहु मन्यते । अतो विसदृशोत्पत्तौ कणादमतसिद्धदृष्टान्तोऽस्ति न वेति विचार्यते । नास्तीति तावत्प्राप्तं, यतः शुक्लपटः शुक्लेभ्य एव तन्तुभ्यो जायते न तु रक्तेभ्यः । तस्मान्नास्तीति प्राप्ते सिद्धान्तः—

उन्मत्तचूडपरिमण्डलपीलुयुग्मात्
दृष्टान्तयाम्यहमणुद्व्यणुकप्रसूतिम् ।
अप्यायतत्र्यणुकसिद्धिमणुत्रयेण
त्वत्तो वृषाङ्क विषमाज्जनुषस्त्रिलोक्याः ॥६१॥

अस्यैव विसदृशोत्पत्तौ दृष्टान्तः । तथाहि परमाणवः पा-

रिमाण्डल्यपरिमाणयुक्ताः न त्वणुपरिमाणयुक्ताः, द्वाभ्यां परमाणुभ्यामणुपरिमाणरहिताभ्यामणुपरिमाणैरुपेतं द्व्यणुकमुत्पद्यते। इदमेकं निदर्शनम्। तथा ह्रस्वपरिमाणोपेतं दीर्घपरिमाणरहितं द्व्यणुकं, तादृशेभ्यः त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यो दीर्घपरिमाणोपेतमणुपरिमाणरहितं त्र्यणुकमुत्पद्यते। इदमपरं निदर्शनम्। एवमन्यत्राप्युदाहर्तव्यानि ॥ ६१ ॥

[३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम्]

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः।

(ब्र० सू० २।२।१२)

सृष्टेः पूर्वं निश्चलेषु परमाणुषु यदा परमेश्वरस्य सिसृक्षा भवति तदा प्राणिकर्मवशान्निश्चलेषु परमाणुष्वाद्यं कर्मोत्पद्यते। तस्मात्कर्मणः एकः परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुज्यते। तस्माद्यसंयोगात् द्व्यणुकमारभ्यते। तेभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्त्रिभ्यस्त्र्यणुकमित्यादिक्रमेण कृत्स्नजगदुत्पत्तौ बाधकाभावात् संयुक्ताः परमाणवो जगज्जनयन्तीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

सर्गादिकालपरमाणुसमाश्रिताद्य—
कर्मोद्गतैर्दुरपवादतया विपक्षैः।
तन्मूलविश्वजननाघटनादगत्या
तैरीशितुः प्रकृतितैव तवाभ्युपेया ॥ ६२ ॥

यदेतदाद्यं कर्म तन्निर्निमित्तं सनिमित्तं वा । निर्निमित्तत्वे नियामकाभावात् सर्वदा तदुत्पत्तौ प्रलयाभावप्रसङ्गः । सनिमित्तत्वेऽपि तन्निमित्तं दृष्टमदृष्टं वा । न तावत् दृष्टं, प्रयत्नस्याभिघातस्य वा शरीरस्योत्पत्तेः प्रागसम्भवात्, ईश्वरप्रयत्नस्य नित्यस्य कादाचित्काद्यकर्म प्रत्यनियामकत्वात् । नाप्यदृष्टमाद्यकर्मनिमित्तम्, आत्मसमवेतस्यादृष्टस्य परमाणुभिरसम्बन्धात् । तथा चाद्यकर्मासम्भवात् संयुक्तेभ्यः परमाणुभ्यो जगदुत्पत्त्यसंभवात् ब्रह्मोपादानमेव जगदिति ॥ ६२ ॥

[४ समुदायाधिकरणम्]

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः । (ब्र०सू०२।२।१८)

बाह्यास्तित्ववादिनो मन्यन्ते बौद्धाः—द्वौ समुदायौ बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो भूनदीसमुद्रादिकः । आन्तराश्चित्तचैतन्यात्मा । तदेतत्समुदायद्वयमेव समस्तं जगत् । तत्र बाह्यसमुदायस्य परमाणवः कारणम् । ते च परमाणवश्चतुर्विधाः—केचित् खराः पार्थिवाख्याः, अपरे स्निग्धा आप्याः, अन्ये चोष्णास्तैजसाख्याः, अन्ये चलनात्मकाः वायवीयाः । तेभ्यश्चतुर्विधेभ्यः परमाणुभ्यः युगपत्पुञ्जीभूतेभ्यः बाह्यसकलसमुदायो जायते । आन्तरस्य च समुदायस्य स्कन्धपञ्चकं कारणम्—रूपस्कन्धो, विज्ञानस्कन्धो, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः संस्कारस्कन्धश्चेति । तत्र चित्तेन निरूप्यमाणाः शब्दस्पर्शादयो रूपस्कन्धाः, तद्विषयकं ज्ञानं विज्ञानस्कन्धः, तज्जन्यं दुःखं वे-

दनास्कन्धः, देवदत्तादिनामधेयं संज्ञास्कन्धः, एतेषां वासना संस्कारस्कन्धः। पुञ्जीभूतेभ्यः पञ्चस्कन्धेभ्यः आन्तरः समुदायो जायते । तस्माद्युज्यते समुदायद्वयमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

नाथ त्वदभ्युपगमं न वितन्वते ये
जल्पन्ति चेतनमपि क्षणिकस्वभावम्।
रूपादयः खरमुखाः परमाणवश्च
तेषां मते समुदयौ कथमारभन्ताम् ॥ ६३ ॥

किमणूनां स्कन्धानां संघातोत्पत्तौ निमित्तभूतः चेतनोऽन्योऽस्ति किं वा स्वयमेव संहन्यन्ते ? आद्ये अपि स चेतनः स्थायी क्षणिको वा ? स्थायित्वे अपसिद्धान्तः, क्षणिकत्वे प्रथमं स्वयं लब्धात्मकः पश्चात्संघातापत्तिं करोतीति वक्तव्यम्। द्वितीये त्वचेतनाः स्कन्धाः अणवश्च नियामकं चेतनमन्तरेण प्रतिनियताः कथं संहन्यन्ते ? तस्मान्न युक्तं समुदायद्वयम् ॥ ६३ ॥

[५ अभावाधिकरणम्]

नाभाव उपलब्धेः । (ब्र०सू०२।२।२८)

केचिद्बौद्धाः बाह्यार्थमपलपन्तः विज्ञानमात्रं तत्त्वमित्याहुः। न च तत्र व्यवहारानुपपत्तिः स्वप्ने बाह्यपदार्थाननपेक्ष्य केवलया बुद्ध्या व्यवहारदर्शनात्। तथैव जाग्रद्व्यवहारस्याप्युपपत्तेः।

तस्माद्विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यत इति प्राप्ते ।सिद्धान्तयति–

ये नाम सर्वमिदमान्तरमेव दृश्य-
जालं बहिर्वदवभासत इत्युशन्ति ।
बाह्योपमानवच एव महेश तेषां
मानं बहिस्त्रिजगतीह भवत्प्रणीते ॥ ६४ ॥

विषमो हि स्वप्नदृष्टान्तः प्रबोधदशायां स्वप्नस्य बाध्यमानत्वात् । जाग्रद्व्यवहारस्य न क्वचिद्बाधं पश्यामः । न च बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणाभावः उपलब्धेरेव प्रमाणत्वात् । उपलभ्यन्ते हि घटादयो बहिष्ट्वेन । अथोच्यते बुद्धिरेव बाह्या घटादिवदवभासते तथाहुः 'यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं बहिर्वदवभासते' इति, एवं तर्हि त्वदुक्तिरेव बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणमिति ब्रूमः। क्वचिदपि बाह्यार्थाभावे तत्र व्युत्पत्तिराहित्यात् बहिर्वदित्युपमानोक्तिर्न सङ्गच्छते। तस्मात् बाह्यार्थसद्भावात् विज्ञानमात्रत्वं न युक्तम् ॥६४॥

[६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम्]

नैकस्मिन्नसंभवात् । (ब्र०सू०२।२।३३)

आर्हता मन्यन्ते । जीवोऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ । जीवश्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः । अजीवः षड्विधः । तत्र महीधरादिरेकः । आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्याः पञ्च । आस्रव

इत्यनेन जीवो विषयेष्वत्याश्रव इन्द्रियसंघातः । संवृणोति विवेकमिति अविवेकादिः संवरः । निश्शेषेण जीर्यत इति कामक्रोधादिरिति केशोल्लुञ्छनं तप्तशिलारोहणादिकं तपः निर्जरः । कर्माष्टकेनापादिता जन्ममरणपरंपरा बन्धः । चत्वारि घातिकर्माणि पापविशेषरूपाणि चत्वारि चाघातिकर्माणि पुण्यविशेषरूपाणि । शास्त्रोक्तोपायेन तेभ्योऽष्टभ्यः कर्मभ्यो विनिर्गतस्य सततोर्ध्वगमनं मोक्षः । त एते सप्तपदार्थाः सप्तभङ्गिरूपेण न्यायेन व्यवस्थाप्यन्ते । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति सप्तभङ्गिन्यायः । अस्यायमर्थः—स्यात्स्याच्छब्द ईषदर्थवाची निपातः । प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः-सद्वादिनः, असद्वादिनः, सदसद्वादिनः, अनिर्वचनीयवादिनश्चेति । पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन सम्मिश्रितानि सदादीनि मतानीति त्रिविधा वादिनः । तानेतान् सप्तविधान्वादिनः प्रति सप्तविधा न्यायाः प्रयोक्तव्याः । तद्यथा सद्वादी समागत्याह तं प्रति किं त्वन्मते मोक्षोऽस्तीति पृष्टे सति तत्राहोत्तरं ब्रूते ईषदस्तीति । एवमन्यानपि वादिनः प्रति स्यान्नास्तीत्याद्युत्तराणि उदाहर्तव्यानि । तावता वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तो नोत्तरं प्रतिपद्यन्ते । अतोऽस्य सप्तभङ्गिरूपस्य साधकन्यायस्य सद्भावात् जीवादीनां सप्तपदार्थानां सिद्धौ किमाश्चर्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

एकार्थ एव सदसत्त्वविभावनादि-
दोषातिरेकहतयापि च सप्तभङ्ग्या ।
जीवास्रवप्रभृतिसप्तपदार्थसिद्धिं
त्वद्वञ्चिताः कतिपये कथयन्ति शम्भो ॥६५॥

सप्तभङ्गिरूपोऽयमपन्यायः, एकस्य जीवपदार्थस्य सद्वादिनं प्रति सद्रूपत्वमसद्वादिनं प्रत्यसद्रूपत्वमित्येवमादिविरुद्धधर्मप्रतिपादकत्वात् । न च जीवस्य सावयवत्वं युज्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । तदा नित्यमोक्षः कस्य पुरुषार्थः स्यात् । तस्मान्न्यायाभासेन सप्तभङ्ग्या न जीवादीनां सिद्धिरिति ॥ ६५ ॥

[७ पत्यधिकरणम्]

पत्युरसामञ्जस्यात् । (ब्र० सू० २।२।३७)

पूर्वाध्याये परमेश्वरस्य प्रपञ्चं प्रति निमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रतिपादितम् । तदिदमसहमानास्तार्किकशैवादयः केवलनिमित्तत्वमीश्वरस्य वदन्ति, युक्तिं चाहुः यथा कुलालोऽनुपादानभूतो मृदादि नियच्छन् कर्त्ता भवति तथा तटस्थ ईश्वर इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

ताटस्थ्यमास्थितवतां तव तान्त्रिकाणां
वैषम्यनिष्करुणताविनिवृत्तिहेतोः ।

कर्मानुगत्वपरवेदगवेषणाया
कामं समापतति घट्टकुटीप्रभातम् ॥ ६६ ॥

न युक्तं केवलनिमित्तत्वं वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य दुष्परिहरत्वात् । कथं तर्हि दोषः परिह्रियत इति चेत्, प्राणिकर्मसापेक्षत्वादिति ब्रूमः । तथात्वे चागमोऽस्माकं प्रमाणम् । त्वयाप्यन्ततो गत्वा आगमश्चेदङ्गीक्रियते तटस्थत्वमीश्वरस्य परित्याज्यं, 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्युपादानश्रुत्या विरोधात् । तस्मान्न तटस्थेश्वरवादो युक्तः ॥ ६६ ॥

[८ उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्]

उत्पत्त्यसम्भवात् । (ब्र॰ सू॰ २।२।४२)

पाञ्चरात्रागमे नारायणपूजाप्रतिष्ठातत्फलानां सर्ववैदिकैरङ्गीकारात् भगवानेको वासुदेवस्तस्माद्वासुदेवात्संकर्षणाख्यो जीवो जायते तस्मात्प्रद्युम्नाख्यं मनो जायते मनसश्चानिरुद्धाख्योऽहङ्कारः । त एते वासुदेवादयश्चत्वारो व्यूहाः सर्वात्मका इति पाञ्चरात्रिका वदन्तीति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

नामान्तरात्तव नदीधर वासुदेवात्
संकर्षणस्य कतिचिज्जनिमाद्रियन्ते ।
किं ते भवन्ति कृतहान्यकृतागमाख्य-
दुर्वारदोषयुगलीतरणे प्रवीणाः ॥६७॥

श्रुतियुक्तिविरुद्धार्थोऽभ्युपगम्यते । जीव उत्पद्यते इत्ययुक्तं कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । पूर्वसृष्टौ यो जीवः तस्योत्पत्तिमत्त्वेन प्रलयदशायां विनष्टे सति तत्कृतयोर्धर्माधर्मयोरफलप्रदत्वेन विनाशः प्रसज्यते । तस्मिन्कल्पे उत्पद्यमानस्य नूतनजीवस्य धर्माधर्मयोः पूर्वमननुष्ठितयोः सतोरिह सुखदुःखप्राप्तिर्भवतीत्यकृताभ्यागमः प्रसज्येत, तस्मान्न जीव उत्पद्यते ॥ ६७ ॥

इति श्रीमत्परशुराममिश्रात्मजमित्रमिश्रप्रेरितस्य वेङ्कटभट्टसूनुधर्म्मय्यदीक्षितस्य कृतौ अद्वैतविद्यातिलकदर्पणे
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

[१ वियदधिकरणम्]

न वियदश्रुतेः । (ब्र० सू० २।३।१)

तैत्तिरीयके 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति श्रूयते । तत्राकाशो जायते न वेति संशये स न जायते, कारणत्रयासंभवात् । 'संभूतः' इति जनिश्रुतिस्तु शौर्यादिगुणयोगेन माणवके सिंहशब्दवत् संप्रतिपन्नब्रह्मकार्यभूभूधरादिगतसत्ताजातिरूपगुणयोगेनाकाशे गौणी । तस्मादनाद्यनन्तं व्योम न जायते इति

प्राप्ते वदति—

> चन्द्रार्धभूष भवतोऽवगमादशेष-
> विज्ञानमित्यखिलवेदशिखैकवादः ।
> संबोभवीति स किमम्बरनित्यताया-
> मातस्त्वदेतदुपजायत इत्यवैमि ॥ ६८ ॥

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदशेषेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धम् । तच्च व्योम्नो ब्रह्मकार्यत्वे मृद्घटन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेकादुपपादयितुं शक्यते नान्यथा । यत्तु कारणत्रयासंभव इत्युक्तं तन्न । आरम्भवादे तदपेक्षायामपि विवर्तवादे तदनपेक्षणात् । तस्मादविद्यादिसहकृतब्रह्मणः कारणात् आकाशो जायत इति ॥६८॥

[२ मातरिश्वाधिकरणम्]

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः । (ब्र० सू० २।३।८)

तैत्तिरीयके च 'आकाशाद्वायुः' इति श्रूयते । सेयमुत्पत्तिश्रुतिः गौणी, बृहदारण्यके 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' इति वायोर्विनाशप्रतिषेधात्, उत्पत्तिमत्त्वे च तदयोगात् । तस्मान्न जायते वायुरिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

> वायोः प्रसूतिमुपसंहृततैत्तिरीय-
> वाक्यान्विता वदति कौथुमसर्गसूक्तिः ।

व्योम्ना विशिष्टवपुषो भवतः सकाशाद्
गौणी ततो मरुदनस्तमितत्ववाणी ॥ ६९ ॥

छान्दोग्ये वायोर्जन्माश्रवणेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन तैत्तिरीयकवाक्यस्य इतरत्रोपसंहारे सति श्रुतमेव छान्दोग्ये वायुजन्म । अनस्तमितत्वश्रुतिस्तु न मुख्या उपासनाप्रकरणे पठितत्वेन स्तुत्यर्थत्वात् । आकाशोत्पत्तिहेतवश्चात्रानुसन्धेयाः । न च वायोराकाशकार्यत्वेन ब्रह्मण्यनन्तर्भावात् ब्रह्मज्ञानेन वायुज्ञानं न सिद्ध्येत् इति शङ्कनीयम्, पूर्वकार्यविशिष्टस्य ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्यहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणतया वियदापन्नस्य ब्रह्मण एव वायुकारणत्वात् । तस्माद्वायुर्जायते ॥ ६९ ॥

[३ असंभवाधिकरणम्]

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । (ब्र०सू०२।३।९)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति छान्दोग्ये श्रूयमाणं जगत्कारणं सद्रूपं ब्रह्म जायते कारणत्वाद्वियदादिवदिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

यत्कारणं जननशालि तदित्यमुष्य
हेतोरजश्रुतिनिराकृतसाध्यकत्वात् ।
तत्कारणस्य च विवेक्तुमशक्यभावा-
दुत्पद्यते नहि भवानुडुराजमौले ॥ ७० ॥

सद्रूपं ब्रह्म न जायते तज्जनकस्य दुर्निरूपत्वात् । न तावदसत्कारणं, 'कथमसतः सज्जायेत' इति निषेधात्। नापि सदेव सतः कारणं, 'पुरुषो वै रुद्रः सन्मह' इत्यादिवाक्येनावगतस्य सच्छब्दार्थस्य शिवस्य 'अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखम्' इत्यादिश्रुत्या जन्माभावश्रवणात् । नापि वियदादिकं तज्जन्यं तत्कारणम् । यत्कारणं तज्जायत इति व्याप्तिः पूर्वोक्तश्रुत्या 'स वा एष महानज आत्मा' इति श्रुत्या च बाध्येति, ततः सत् ब्रह्म न जायते ॥ ७० ॥

[४ तेजोऽधिकरणम्]

तेजोऽतस्तथाह्याह । (ब्र०सू० २।३।१०)

ब्रह्मणो जायते तेजः ब्रह्मसंयुक्ताद्वायोर्वा इति संशये छान्दोग्ये 'तत्तेजोऽसृजत' इति श्रुत्या तेजसः ब्रह्मजनित्वं श्रूयते, तैत्तिरीयके 'वायोरग्निः' इति वायुजत्वं श्रूयते तेजसः । तत्र वायोरिति पञ्चम्या आनन्तर्यार्थस्यापि सम्भवात् केवलं ब्रह्मजन्यं तेज इति प्राप्ते सिद्धान्तः—

संभूतशब्दसहभूतसपञ्चमीक-
वायुश्रुतिव्यतिकरात्प्रकृतित्वसिद्धेः ।
संभूय वेदयुगलीगतवाक्ययुग्मं
जन्माह वायुसहिताद्भवतः कृशानो ॥ ७१ ॥

अनुवर्त्तमानेन संभूतशब्देनान्विताया वायोरिति पञ्चम्या उपपादनार्थत्वस्यैव मुख्यत्वात् उभयोः श्रुत्योरेकवाक्यत्वे सति वायुरूपापन्नात् ब्रह्मणस्तेजो जायत इति लभ्यते ॥ ७१ ॥

[५ अबधिकरणम्]

आपः । (ब्र० सू० २।३।११)

अपां जन्म ब्रह्मणो वा वह्नेर्वेति विषये 'तदपोऽसृजत' 'अग्नेरापः' इत्युभयोः छान्दोग्यतैत्तिरीययोः तेजोरूपब्रह्मजन्यत्वमेवापां श्रूयते, तथापि न तद्युक्तम्। निवर्त्यनिवर्त्तकयोरग्निजलयोर्जन्यजनकभावो नेति प्राप्ते सिद्धान्तः--

पञ्चीकृतेतरपयोदहनाविरोधात्
स्वेदाम्बुवर्षजलसंभवतश्च तापैः ।
आसेदुषा हुतवहोपहितामवस्था-
माधीयते गिरिश सृष्टिरपां त्वयैव ॥ ७२ ॥

पञ्चीकृतयोर्वह्निजलयोर्विरोधेऽपि अपञ्चीकृतयोः श्रुत्येकसमधिगम्ययोर्विरोधकल्पनानुपपत्तेः, तापाधिक्ये स्वेदवृष्ट्योर्दर्शनाच्च श्रुतिद्वयानुसारेण तेजोरूपापन्नात् ब्रह्मणः अपां जनिरिति ॥ ७२ ॥

[६ पृथिव्यधिकाराधिकरणम्]

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । (ब्र०सू०२।३।१२)

छान्दोग्ये 'ता अन्नमसृजन्त' इत्यद्भ्योऽन्नस्य जन्म श्रूयते। तत्रान्नशब्दस्य लोकप्रसिद्ध्या व्रीहियवादिकमर्थ इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

भूताधिकारपठनादसितत्वरूप-
संकीर्त्तनाच्छ्रवणतः पृथिवीपदस्य।
हन्ता पुरामवनिमन्नगिरा प्रतीतां
पाथोमयत्वमधिगत्य भवान् प्रसूते ॥ ७३ ॥

पृथिव्यन्नशब्दार्थः पञ्चमहाभूतसृष्टेरधिकृतत्वात्। किंच 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यत् शुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य' इति कृष्णरूपं पृथिव्यां बहुलमुपलभ्यते नतु व्रीहियवादौ। तथा 'अद्भ्यः पृथिवीति' तैत्तिरीयकश्रुत्यैकवाक्यताबलात् अन्नं पृथिवीति। न चान्नशब्दस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिः कार्यकारणयोरन्नपृथिव्योरभेदविवक्षया तदुपपत्तेः। तस्मादन्नं पृथिवी ॥ ७३ ॥

[७ तदभिध्यानाधिकरणम्]

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः। (ब्र०सू०२।३।१३)

पूर्वाधिकरणेषु पूर्वपूर्वोपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिरिति यदेतत्सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तितं तदयुक्तम्। 'आकाशाद्वायुः' 'वायोरग्निः' इत्यादौ ब्रह्मनिरपेक्षत्वात् केवलाभ्यो-

मादेरुत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिश्रवणात् इति प्राप्ते सिद्धान्तयति--

आलोचनात्मकनिरीक्षणपूर्विकायां
सृष्टौ परं जडतया स्वयमक्षमायाम् ।
व्योमादिकारणततेस्त्वदधिष्ठितायाः
स्थाने समीरमुखसाधकता पुरारे ॥ ७४ ॥

'आकाशमन्तरो यमयति' 'यो वायुमन्तरो यमयति' इत्यादिना अन्तर्यामिब्राह्मणेन व्योमादेः स्वातन्त्र्यं निवारितं, तथा 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त' इति तेज आदेरीक्षणपूर्वकं स्रष्टृत्वं श्रूयते तच्चेक्षणं चेतनब्रह्मणो निरपेक्षाणामचेतनानां न संभवति। तस्मात् व्योमाद्युपाधिकस्य ब्रह्मण एव कारणत्वम्॥७४॥

[८ विपर्ययाधिकरणम्]

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च। (ब्र०सू०२।३।१४)

प्रलये सृष्टिक्रमो वा विपरीतक्रमो वेति विशये, आकाशादिक्रमः सृष्टौ क्लृप्तः प्रलयेऽपि स एव क्रमः इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

उत्पत्त्यनुक्रमविपर्ययतः पिनाकि-
न्नुक्तोलयस्त्वयि महीमुखसृज्यराशेः ।

कार्यस्य कञ्चिदपि कालमवस्थितिः स्या-
त्पश्चादपि प्रथमतो विलये प्रकृत्याः ॥ ७५ ॥

प्रथमतः कारणे विलीने सति रूपादीनां कार्याणां किञ्चि-त्कालमवस्थानं प्रसज्येत । किञ्च 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते' इति विप-रीतक्रमस्योक्तत्वात् क्लृप्त एवायं क्रम इति ॥ ७५ ॥

[९ अन्तराविज्ञानाधिकरणम्]

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्ना-
विशेषात् । (ब्र० सू० २।३।१५)

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु-र्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति श्रूयते मुण्डकोप-निषदि । तत्र प्राणादीनां वियदादिभ्यः पूर्वं श्रूयमाणत्वात् प्राणवाय्वादिसृष्टिक्रमो वियदादिसृष्टिक्रमं निरसितुं शक्नोति न वेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

प्राणादिकस्य भवदेकभुवो यथार्ह-
मन्तर्गमादलिकलोचन भूतसंघे ।
क्षेप्तुं क्षमो नहि भवत्यसुमारुतादि-
सृष्टिक्रमो वियदुपक्रमसर्गशैलीम् ॥ ७६ ॥

'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादाविव क्रमस्याश्रूयमाणत्वादुत्पत्तिमात्रं तु केवलं श्रूयते । तस्मान्नानया श्रुत्या पूर्वोक्तक्रमभङ्गोऽस्तीति प्राणमनइन्द्रियाणां भूतेष्वन्तर्भावं कृत्वा खं वायुरित्यादिना पूर्वक्रममेव श्रुतिर्वदतीति ॥ ७६ ॥

[१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम्]

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् । (ब्र० सू० २।३।१६)

लोके जातो मे पुत्र इति व्यवहारात्, शास्त्रे जातकर्मादिसंस्कारोक्तेश्च जन्ममरणे जीवस्येति प्राप्ते सिद्धान्तयति--

क्लृप्तप्रहाण्यविहितागमनप्रसक्त्या
भाक्तौ परं भवलयौ भवतः प्रतीचः ।
त्वं च ब्रवीषि वपुषो भगवन्विनाश-
मेतन्निषेधसि च तस्य शरीरभाजः ॥ ७७ ॥

जीवस्य मुख्यजन्ममरणाङ्गीकारे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् देहगते एव जन्ममरणे जीवस्योपचर्य्येते । औपचारिके एते अपेक्ष्य लोकव्यवहारकर्मशास्त्रयोः प्रवृत्तिः । उपनिषच्छास्त्रं तु 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' इति जीववियुक्तस्यैव शरीरस्य मुख्यं मरणमभिधाय जीवस्य तन्निराचष्टे । तस्माद्वपुषो जन्ममरणे ॥ ७७ ॥

[११ आत्माधिकरणम्]

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। (ब्र० सू० २।३।१७)

'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति तस्मात्कल्पादौ वियदादिवद्ब्रह्मणो जीवो जायते इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

पुष्पेषुशासन पुरैव विधाय च त्व-
मातन्वतस्तदनु ते तदनुप्रवेशम्।
पूर्वं प्रपञ्चजनुषः श्रुतिबोध्यमाना-
मद्वैततां किमपि न क्षमते विभङ्क्तुम् ॥७८॥

यदद्वयं ब्रह्म तदेव जातायां बुद्धौ जीवरूपेण प्रविशति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतेः। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामिति' तस्मात्कल्पादौ जीवा नोत्पद्यन्ते ॥ ७८ ॥

[१२ ज्ञाधिकरणम्]

ज्ञोऽत एव। (ब्र० सू० २।३।१८)

जीवश्चिद्रूपः अचिद्रूपो वेति संशये तार्किका वदन्ति—सुषुप्तिमूर्च्छासमाधिषु चैतन्याभावादचिद्रूपो जीवः। जागरणे त्वात्ममनस्संयोगाच्चैतन्याख्यो गुणो जायते इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

जीवात्मना हृदयसीमनि सन्निविष्टे
जाग्रत्यपि त्वयि चिदेकरसस्वभावे ।
मध्ये सुषुप्तिमिति सत्त्वमपह्नुवानः
स्वापावधौ किमु सुखाद्यनुसन्दधीत ॥ ७९ ॥

चिद्रूपस्य ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशश्रवणात् न चैतन्यं सुषुप्त्यादौ लुप्यते सुषुप्त्यादिसाक्षित्वेनावस्थानात् । अन्यथा सुषुप्त्यादिपरामर्शायोगात् । कथं तर्हि सुषुप्त्यादौ द्वैताप्रतीतिरिति चेत् द्वैतलोपादिति ब्रूमः । तथा च श्रुतिः--'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति-नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इति । अस्यायमर्थः-तत्र सुषुप्तजीवः किमपि न पश्यतीति यल्लौकिकैरुच्यते तदसत् पश्यन्नेव जीवस्तदानीं न पश्यतीति भ्रान्त्या व्यपदिश्यते । कथं दर्शनमित्यत्र हेतुरुच्यते--द्रष्टुरात्मनः स्वरूपभूताया दृष्टेर्लोपो नहि विद्यते विनाशरहितस्वभावत्वात् । अन्यथा लोपवादिनोऽपि निःसाक्षिकस्य लोपस्य वक्तुमशक्यत्वात् । कथं तर्हि लौकिकानां भ्रम इत्यत्र हेतुरुच्यते-ब्रह्मचैतन्यादन्यत् क्रियाकारकफलरूपेण विभक्तं जगदाख्यं यत् द्वितीयं वस्तु तन्नास्ति तस्य स्वकारणे लीनत्वात् । अतो जागरणवद्द्रष्टृदृश्यदर्शनव्यवहाराणामभावात् न पश्यतीति लौकिकानां भ्रम इति । तस्माच्चिद्रूपो जीवः ॥ ७९ ॥

[१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम्]

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । (ब्र० सू० २।३।१९)

जीवोऽणुर्वा सर्वगो वेति सन्देहे 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यणुत्वं श्रुतम् । 'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' इत्युत्क्रान्तिः । 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इति गतिः । 'तस्माल्लोकात्पुनरैति' इत्यागमनम् । नैतद्धयुत्क्रान्त्यादयः सर्वगतस्योपपद्यन्ते मध्यमपरिणामस्य तदुपपत्तावपि अणुश्रुतिर्विद्यते । अनित्यत्वं च दुर्निवारम् । तस्मादणुर्जीव इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

देहाच्च निःसृतिरथ त्रिदिवं गतिश्च
प्रत्यागतिश्च निगमप्रतिपाद्यमाना ।
अस्त्येव चित्तमुकुरोदरमाश्रयन्त्याः
जीवाकृतेः शिव भवत्प्रतियातनायाः ॥ ८० ॥

चैतन्यप्रतिबिम्बसहिता बुद्धिरसर्वगता । तदुपाधिकत्वात् जीवस्योत्क्रान्त्यादय उपपन्नाः । स्वतस्तु जीवस्य ब्रह्मरूपत्वात् 'सर्वगतम्', 'स वा एष महानज आत्मा', 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिषु सर्वगतत्वं श्रुतम् । तस्मात्सर्वगतो जीवः ॥८०॥

[१४ कर्त्रधिकरणम्]

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । (ब्र० सू० २।३।३३)

जीवः कर्त्ता वा न वेति संशये, सांख्यास्तु बुद्धेः परिणामित्वेन क्रियावेशात्मकं कर्तृत्वं संभवति न त्वसङ्गत्यात्मन इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

कर्तृत्वमस्ति करणत्वजुषो न बुद्धेः
सत्त्वे परं तु करणं परिकल्पनीयम् ।
कर्त्तैव मास्त्विति नहि श्रवणादिकं ते
सापेक्षमत्र पशुरेव ततः स कर्त्ता ॥ ८१ ॥

करणत्वेन क्लृप्तशक्तिकायाः बुद्धेः कर्तृशक्तिर्न कल्पयितुं शक्या, कुठारादावदर्शनात् । बुद्धेः कर्तृत्वे करणान्तरस्य कल्पनीयत्वात् । न च माभूत्कर्त्तैवेति वाच्यम् । पूर्वकाण्डोक्तयागादिव्यापाराणामुत्तरकाण्डोक्तश्रवणादिव्यापाराणां लौकिकव्यापाराणां च कर्तृसापेक्षत्वात् । तस्माज्जीवः कर्त्ता ॥ ८१ ॥

[१५ तक्षाधिकरणम्]

यथा च तक्षोभयथा । (ब्र० सू० २।३।४०)

कर्तृत्वं वास्तवं कल्पितं वेति संशये कर्तृत्वस्य बाधाभावाद्वास्तवमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

प्रत्यक्तनोस्तव यजेतिपदार्पितोऽपि
निःसंगतैकपरवाक्यनिवार्यमाणः ।

भास्वन्मणेररुणिमेव जपानुबन्धा-
द्धीसन्निधे किमपि दीव्यति कर्तृभावः ॥८२॥

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुत्या कर्तृत्वसम्बन्धो बाध्यते। अतो जपाकुसुमसन्निधिवशात्स्फटिके रक्तत्वं यथाध्यस्तं तथा अन्तःकरणसन्निधिवशात्कर्तृत्वमात्मन्यध्यवस्यते ॥ ८२ ॥

[१६ परायत्ताधिकरणम्]

परात्तु तच्छ्रुतेः। (ब्र० सू० २।३।४१)

लोके कृषीबलादीनां रागद्वेषावेव प्रवर्तकौ दृष्टौ। तदनुसा-राद्धर्माधर्मकर्तृजीवस्यापि तावेव प्रवर्तकौ अभ्युपेयौ। ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे कांश्चिज्जीवान् धर्मे प्रवर्तयति कांश्चिदधर्मे इति वैष-म्यं दुर्वारम्। तस्मान्नेश्वरः प्रवर्तक इति प्राप्ते सिद्धान्यति—

साधारणो गिरिश हेतुरसि प्रवृत्तौ
बध्नाति कर्म जनिमत्फलतारतम्यम्।
वर्षे समेऽपि सति शालियवादिबीज-
वैषम्यतो भवति सित्यविशेषसिद्धिः ॥ ८३ ॥

ईश्वरस्य न वैषम्यप्रसङ्गः वृष्टिवत्साधारणनिमित्तत्वात्। यथा वृष्टेः सस्याभिवृद्धिहेतुत्वेऽपि व्रीहियवादिवैषम्ये बीजाना-

मेव निमित्तत्वं तथेश्वरस्य यथा यथा जीवाः प्रवर्त्तन्तामित्यनुज्ञया साधारणप्रवर्तकत्वेऽपि न वैषम्यं, पूर्वकृतकर्मणां वासनानां च वैषम्यहेतुत्वात्। कर्मणां फलहेतुत्वमेव न कर्मान्तरहेतुत्वमिति चेत् सत्यम्। सुखदुःखस्वरूपस्य च फलस्य प्रदानाय जीवं व्यापारयत्कर्म्म ह्यर्थात्कर्मान्तरमपि निष्पादयतीति दुर्वारं तद्धेतुत्वम्। वासनानां तु साक्षादेव कर्महेतुत्वम्। तथा चेश्वरस्य कुतो वैषम्यप्रसङ्गः। यतोऽनुरागस्य प्रवर्तकत्वमुक्तं तत्तथास्तु। तावतेश्वरस्य प्रवर्तकत्वं न हीयते। सर्वान्तर्यामिणेश्वरेण रागोऽपि नियम्यते। तस्मादीश्वरो जीवस्य प्रवर्तकः॥ ८३॥

[१७ अंशाधिकरणम्]

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशाकितवादित्वमधीयत एके।(ब्र०सू०२।३।४३)

तत्त्वमस्यादिश्रुतिः जीवेश्वरयोरभेदं प्रतिपादयति। 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यादिना द्रष्टृद्रष्टव्यरूपेण भेदः प्रतीयते। तथा सति भेदश्रुतिबलात् जीवो नास्तीत्यपलपितुं न शक्यते। अभेदश्रुत्या चेश्वरात्पृथक्त्वेन व्यवस्थापयितुं न शक्यते। तस्माद्विद्यमानस्य जीवस्य ईश्वरेण सांकर्यं दुर्वारं, परस्परं च जीवानामीश्वराभेदशब्दात् सांकर्य्यमानुषङ्गिकम्। तस्माज्जीवब्रह्मव्यवस्था न घटत इति प्राप्ते सिद्धान्तः—

THE PRINCESS OF WALES SARASVATI BHAVANA TEXTS.

Edited by

GOPINATH KAVIRAJ, M. A.

No. 1—The Kiraṇāvalī Bhāskara, a Commentary on Udayana's Kiraṇāvalī, Dravya section, by Padmanābha Miśra.
Ed. with Introduction and Index by Gopinath Kaviraj, M.A. Rs. 1-12

No. 2—The Advaita Chintāmaṇi, by Rañgoji Bhaṭṭa,
Ed. with Introduction etc. by Nārâyaṇa S'āstri Khiste Sāhityāchārya. Rs. 1-12

No. 3—The Vedānta Kalpalatikā, by Madhusūdana Sarasvatī.
Edited with Introduction etc. by Rāmājñā Pāṇḍeya Vyākaraṇāchārya. Rs. 1-12

No. 4—The Kusumāñjali Bodhanī, a Commentary on Udayana's Theistic Tract, Nyāya Kusumāñjali, by Varadarāja.
Ed. with Introduction etc. by Gopinath Kaviraj, M.A, Rs. 2-0

No. 5—The Rasasāra, a Commentray on Udayana's Kiraṇāvalī, Guṇa Section, by Bhaṭṭa Vādīndra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M.A. Rs. 1-2

No. 6--(Part I)-The Bhāvanā Viveka by Maṇḍana Miśra, with a Commentary by Bhaṭṭa Umbeka.
Ed. with Introduction etc. by M. M. Gaṅgānātha Jhā, M. A., D. Litt. Rs. 0-12

No. 6-(Part II)—Ditto Ditto Rs. 0-12

No. 7-(Part I)-The Yoginīhṛdaya dīpikā, by Amṛtānanda Nātha, being a Commentary on Yoginīhṛdaya, a part of Vāmakeśvara Tantra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M.A. Rs. 1-8

No 7—(Part II) Ditto Ditto Rs. 1-4

No. 8—The Kāvyaḍākinī, by Gaṅgānanda Kavīndra.
Ed. with Introduction etc. by Jagnnātha S'āstri Hoshing Sāhityopādhyāya. Rs. 0-10

No. 9—(Part I)-The Bhakti Chandrikā, a Commentary on S'āṇḍilya's Bhaktisūtras, by Nārāyaṇa Tīrtha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.
Rs. 0-15

No. 10-(Part I)-The Siddhāntaratna, by Baladeva Vidyābhūṣaṇa.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.
Rs. 1-2

No. 10-(Part II)—Do. Do. Rs. 2-12

No. 11-The S'rī Vidyā Ratna Sūtras, by Gauḍapāda, with a Commentary by S'aṅkarāraṇya.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstrī Khiste Sāhityāchārya. Rs. 0-9

No. 12-The Rasapradīpa, by Prabhākara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstri Khiste Sāhityāchārya. Rs. 1-2

No. 13-The Siddhasiddhānta Saṅgraha, by Balabhadra.
Ed. with Introduction by Gopinath Kaviraj, M. A. Rs. 0-14

No. 14-The Triveṇikā, by Āśādhara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M. A. and Jagannātha S'āstri Hoshing Sāhityopādhyāya. Rs. 0-14

No. 15-(Part I)-The Tripurārahasya. (Jñāna Khaṇḍa)
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.
Rs. 0-14

No. 15-(Part-II)—Do. Do. Rs. 2-4

No. 15-(Part III)—Do. Do. Rs. 2-0

No. 16-The Kāvya Vilāsa, by Chirañjīva Bhaṭṭāchārya.
Ed. with Introduction etc. by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M. A. and Jagannātha S'āstri Hosing Sāhityopādhyāya. Rs. 1-2

No. 17-The Nyāya Kalikā, by Bhaṭṭa Jayanta.
Ed. with Introduction by M. M. Gaṅgānātha Jhā, M. A., D. Litt. Rs 0-14

No. 18-(Part I)-The Gorakṣa Siddhānta Saṅgraha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M. A. Rs, 0-14

No. 19-(Part. I)-The Prākṛita Prakāśa by Vararuchi with the Prākṛita Sañjīvanī by Vasantarāja and the Subodhinī by Sadānanda.
Ed. with Prefatory note etc. by Batuk Nath S'armā, M. A. and Baladeva Upādhyāya, M. A. Rs 2-4

No. 19-(Part.II) Ditto Ditto Rs. 2-12

No 19—(Part. III) Introduction etc. (In Preparation.)

No. 20-The Mānsatattvaviveka by Viśvanātha Nyāyapañchānana Bhaṭṭāchārya.
Edited with Introduction etc. by P. Jagannātha S'āstri Hoshing Sāhityopādhyāya, with a Foreword by Pandit Gopi Nath Kavirāja, M. A., Principal, Government Sanskrit College, Benares. Rs. 0-12

No. 21-(Part I) The Nyāya Siddhānta Mālā by Jayarāma Nyāya Pañchānana Bhaṭṭāchārya,
Edited with Introduction etc. by Mangal Deva S'āstrī M. A., D. Phil. (Oxon), Librarian, Govt. Sanskrit Library, Sarasvati Bhavana, Benares. Rs. 1-2

No. 21-(Part-II) Ditto Ditto Rs. 2-0

No. 22-The Dharmānubandhi S'lokachaturdaśī by S'ri S'eṣa Kṛṣṇa with a Commentary by Rāma Pandit.
Edited with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstri Khiste Sāhityāchārya, Assistant Librarian, Government Sanskrit Library, Saraswati Bhavana, Benares.

No. 23-Navarātrapradipa by Nanda Pandit Dharmādhikārī.
Ed. with Introduction etc. by Vaijanātha S'āstrī Varakale, Dharmaśāstra-S'āstrī, Sādholāl Research Scholar, Sanskrit College, Benares, with a Foreword by P. Gopinath Kaviraj, M. A., Principal, Government Sanskrit College, Benares.

No. 24-The S'rī Rāmatāpinīyopaniṣad with the Commentary called Rāma Kāśikā in Pūrvatāpinī and Ānandanidhi in Uttaratāpinī by Ānandavana.

Ed. with Introduction etc. by Anantarāma S'āstrī Vetāla Sāhityopādhyāya, Post-Āchārya Scholar, Govt. Sanskrit College, Benares, with a Foreword by Pandit Gopī Nātha Kavirāja, M. A., Principal, Government Sanskrit College, Benares. Rs 3-12

No. 25-The Sāpiṇḍyakalpalatikā by Sadāśivadeva alias Āpadeva with a commentary by Nārāyaṇa Deva.
Edited with Introduction etc. by Jagannātha S'āstrī Hośiṅga, Sāhityopādhyāya, Sādholāl Research Scholar, Govt. Sanskrit College, Benares. Rs. 1-4.

No. 26-The Mṛgāṅkalekhā Nāṭikā by Viśvanātha Deva Kavi.
Edited with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstri Khiste Sāhityāchārya, Asst. Librarian, Government Sanskrit Library, Benares. Rs. 1-0

No. 27-The Vidvachcharita Pañchakam By Nārāyana S'āstri Khiste, Sāhityacharya, Assistant Librarian, Govt. Sanskrit College, Library, Sarasvati Bhavana, Benares. With an Introduction by Gopināth Kaviraja, M. A., Principal, Govt. Sanskrit College, Benares. Rs 2-0

No. 28-The Vrata Kos'a by Jagannātha S'āstri Hosiṅga Sāhityopādhyāya, late Sadholal Research Scholar, Sanskrit College, Benares. With a Foreword by S'rī Gopinātha Kaviraja, M.A., Principal, Govt. Sanskrit College, Benares. Rs. 4-0

No. 29-The Vṛitti dīpikā By Mauni S'rī Kṛṣna Bhatta.
Edited with Introduction etc. by Pt. Gangadhara S'astri Bhāradvāja, Professor, Govt. Sanskrit College, Benares.

No. 30-The Padārtha Maṇḍanam By S'rī Venīdatta.
Edited with Introduction etc. by Pandit Gopāla S'āstri Nene, Professor, Govt. Sanskrit College, Benares.

No. 31 (Part I)-The Tantraratna by Pārtha Sārathi Mis'ra.
Edited by M. M. Dr. Ganganatha Jha, M. A., D. Litt, Vice-Chancellor, Allahabad University, Allahabad.

No. 32-The Tattvasāra by Rākhāldasa Nyāyaratna.
Edited with Introduction etc. by Harihara S'astri, Benares Hindu University.

No. 33-The Nyaya Kaustubha (Part I) by Mahadeva Puntamkar.
Edited with Introduction etc. by Umes'a Miśra, M. A. Allahabad University, Allahabad.

THE PRINCESS OF WALES SARASVATI BHAVANA STUDIES:

Edited by

GOPINATH KAVIRAJ, M. A.

Vol. I—

(a) Studies in Hindu Law (1): its Evolution, by Gaṅgānātha Jhā.

(b) The View-point of Nyāya Vaiśeṣika Philosophy, by Gopi nath Kaviraj.

(c) Nirmāṇa Kāya, by Gopinath Kaviraj. Rs. 1-12

Vol. II—

(a) Paraśurāma Miśra alias Vāṇī Rasāla Rāya, by Gopinath Kaviraj.

(b) Index to S'abara's Bhāṣya, by the late Col. G. A. Jacob.

(c) S'tudies in Hindu Law (2):—its sources, by Gaṅgānāth Jha

(d) A New Bhakti Sūtra, by Gopinath Kaviraj.

(e) The System of Chakras according to Gorakṣa nātha, by Gopinath Kaviraj.

(f) Theism in Ancient India, by Gopinath Kaviraj.

(g) Hindu Poetics, by Batuka nātha S'armā.

(h) A Seventeenth Century Astrolabe, by Padmākara Dvivedi

(i) Some aspects of Vīra S'aiva Philosophy, by Gopinath Kaviraj

(j) Nyāya Kusumāñjali (English Translation), by Gopinath Kaviraj.

(k) The Definition of Poetry, by Nārāyaṇā S'āstri Khiste.

(l) Sondala Upādhyāya, by Gopinath Kaviraj. Rs. 5

Vol. III—

(a) Index to S'abara's Bhāṣya, by the late Col. G. A. Jacob.

(b) Studies in Hindu Law (3): Judicial Procedure: by Gaṅgānātha Jha.

(c) Theism in Ancient India, by Gopinath Kaviraj.

(d) History and Bibliography of Nyāya Vaiśeṣika Literature, by Gopinath Kaviraj.

(e) Naiṣadha and S'rī Harṣa by Nīlakamala Bhaṭṭāchārya.

(f) Indian Dramaturgy, by P. N. Pātankar. Rs. 5

Vol. IV—

(a) Studies in Hindu Law (4): Judicial Procedure: by Gaṅgā-nātha Jha.

(b) History and Bibliography of Nyāya Vaiśeṣika Literature, by Gopinath Kaviraj.

(c) Analysis of the Contents of the Ṛgveda-Prātiśākhya, by Maṅgala Deva S'āstrī.

(d) Nārāyaṇa's Gaṇita kaumudī, by Padmākara Dvivedi.

(e) Food and Drink in the Ramayanic Age, by Manmatha natha Roy

(f) Satkāryavāda: Causality in Sāṅkhya, by Gopinath Kaviraj

(g) Discipline by Consequences, by G. L. Sinha.

(h) History of the origin and expansion of the Aryans. by A. C. Ganguly.

(i) Punishments in Ancient Indian Schools, by G.L. Sinha. Rs 5

Vol. V—

(a) Ancient Home of the Aryans and their migration to India, by A. C. Ganguly.

(b) A Satrap Coin, by Shyamalal Mehr.

(c) An Estimate of the Civilisation of the Vanaras as depicted in the Rāmayaṇa, by Manmatha nātha Roy.

(d) A Comparison of the Contents of the Ṛgveda, Vajasaneya, Taittirīya & Atharvaveda Prātiśākhyas, by Maṅgala Deva S'āstri.

(e) Formal Training and the Ancient Indian Thought, by G.L. Sinha.

(f) History and Bibliography of Nyāya Vais'eṣika Literature, by Gopinath Kavirāj.

(g) A Descriptive Index to the names in the Rāmāyaṇa, by Manmatha nātha Roy.

(h) Notes and Queries, (1) Virgin Worship, by Gopinath Kaviraj. Rs. 5

Vol. VI—

(a) Index to S'abara's Bhāṣya, by the late Col. G. A. Jacob..

(b) Some Aspects of the History and Doctrines of the Nāthas, by Gopinath Kaviraj.

(c) An Index etc. the Ramayana, by Manmatha nātha Roy.

(d) Studies in Hindu Law by M. M. Gaṅganatha Jha.

(e) The Mimamsa manuscripts in the Govt. Sanskrit Library (Benares), by Gopinātha Kavirāj.

(f) Notes and Queries, by Gopinātha Kavirāj.

Vol. VII.

(a) Bhamaha and his Kavyalankara, by Batukanatha S'arma and Baladeva Upadhyaya.

(b) Some variants in the readings of the Vais'eṣika Sutras, by Gopinātha Kavirāj.

(c) History and Bibliography of Nyâya Vais'eṣika Literature, by Gopinātha Kavirāj.

(d) An attempt to arrive at the Correct meaning of some obscure Vedic words, by Sītāram Joshi.

(e) A comparison of the contents of the Rig Veda, Vajasaneya, Taittiriya, and Atharva Veda (Chāturadhyāyika) Prātis'ākhyas, by Mangal Deva Shāstri.

(f) An Index to the Ramayaṇa, by Manmatha Nāth Roy.

(g) An Index to S'abara's Bhāṣya, by the late Col. J. A Jacob.

(h) Gleanings from the Tantras, by Gopinātha Kavirāj.

(i) The date of Madhusudana Saraswati, by Gopinātha Kavirāj.

(j) Descriptive notes on Sanskrit Manuscripts, by Gopinātha Kavirāj.

(k) A note on the meaning of the term Parārdha, by Umes'a Mis'ra.

Vol. VIII. (In progress)

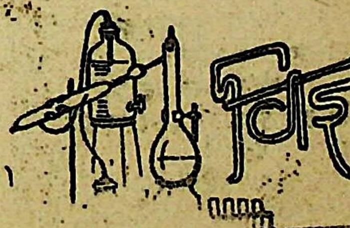
(a) Indian Philosophy, by Taraknath Sanyal.

(b) An Index to the Rāmāyaṇa, by Manmatha Nath Roy.

To be had of
The Superintendent
Government Press, U. P.,
Allahabad.







नया चक्करदार सि…
में क्रान्ति…

—बेरण…

भारतके कई शहरोंके निवास…
'सरकारामा' देख चुके होंगे…
…नयी चीज नहीं…



के

मत्कार

सिनेमा जगत खोज

नीके कुछ वर्ष बाद पुराने
र साधनोंमें संशोधन और
गये किन्तु वर्तुल चलचित्र
साबित हुआ, याने इसको
ना खर्च हुआ कि फिल्मका
पनी प्रथमावस्थामें ही रुक

लरटं कहते हैं कि उपर्युक्त

कारण प्राचीन कालसे ही इसे दैवी प्रकोप समझा जाता था। भारतके अधिकांश भागोंमें देवी, शीतला अथवा महारानी, चेचक आदिकी संज्ञाओंसे लोग इसे पुकारा करते हैं।

प्रायः शीतला या चेचक शब्दका प्रयोग साधारण बोलचालकी भाषामें ठीक अर्थोंमें नहीं उतरता। छोटे दानोंवाली 'मीजिल्स' एवं 'चिकेन पाक्स'के लिए भी यही शब्द प्रयोग करते हैं। यह स्मरणीय है कि इस तरहके शीतलाकी संज्ञा पानेवाले जितने भी रोग हैं वे सभी आपसमें मौलिक भिन्नता रखते हैं। शीतला या चेचक, सही अर्थोंमें केवल बड़े-बड़े दानोंवाले रोगको कहते हैं जिसमें दानोंके निकलने, पकने तथा सूखनेका एक निश्चित समय होता है। सभी दाने एक साथ निकलेंगे और एक ही साथ पककर सूखना प्रारम्भ करेंगे। दूसरी ओर इसका एक महत्वपूर्ण लक्षण यह भी है कि दोनोंकी संख्या हाथ-पांव और मुंहपर अत्यधिक होती है जब कि पेट और पीठके हिस्सोंमें छिटफुट। ये गुण शीतला नामधारी तथाकथित अन्य रोगोंमें नहीं होते।

शीतला या चेचक एक प्रकारकी छूतकी बीमारी है जिसका प्रकोप सारे देशको आतंकित कर देता है। यह प्राचीन कालसे ही मनुष्योंमें होती चली आ रही है। ठीक इसीसे मिलता-जुलता रोग गाय भैंसमें भी पाया जाता है।

कुछ तथ्य

चेचकके होनेका कारण एक अति सूक्ष्म जीवाणु अथवा 'वायरस' है जो किंचित् भिन्नतामें दो प्रकारके होते हैं। एकको 'वेरीओला-मेजर' या शास्त्रीय रोगकारक जीवाणु तथा दूसरेको 'वेरीओला-माइनर' या साधारण कहते हैं। वेरी ओला माइनरका प्रकोप संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशोंमें देखनेको मिलता है।

सन १८८० ई० से १९४० ई० तकके विगत ६० वर्षोंमें भारतके प्रति सहस्र जनसंख्यापर चेचकके कारण मृत्यु दर ०.१ से बढ़कर ०.८ हुई है। वर्तमान स्थितिमें इसी प्रकारकी बढ़ोतरीपर है। सन् १९५१ से १९५५ ई० के बीच विभिन्न ९६ देशोंसे ८९०००० बीमारीकी घटनाओंका अंकन प्राप्त हुआ है। इन ९६ देशोंकी संयुक्त जनसंख्या १ अरब ५५ करोड़ थी। बीमारीकी सम्पूर्ण अंकन संख्याका ९८ प्रतिशत भारत एवं पाकिस्तानमें था जब कि



स्नान

नाइज

—मिश्रीलाल

बोमा बन्दरगाहसे जलयान द्वारा
नाइजीरिया स्थित लागोसके लि
विदा हुआ। यहां मैं लगभग ६ दिनों
बाद पहुंचा। बन्दरगाहपर पारपत्र
स्वास्थ्यपत्र आदि अधिकारियोंकी दिख
लानेके पश्चात् लागोस नगरके लि
पदरथपर चढ़कर चल पड़ा। लागोस



नाइजीरियाकी राजधानी है और मुख्य
बन्दरगाह। यहांका शासन ब्रिटिश
सरकार द्वारा चालित होता है। यहां
प्रधान शासक ब्रिटिश सरकारकी ओर
राज्यपाल रहता है। इस नगरमें मैं ए
सिन्धी व्यापारी श्री रामचन्द्रानीके घ



शीतला या

और